Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 18, अंक 2
जुलाई, 2004

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 18 अंक 2 जुलाई, 2004

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक

दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे**, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण**, चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी**, सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725

प्रबन्ध-संपादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 75/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोजिंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1.	धर्म और नीति : मानव धर्म के सन्दर्भ में उपेय विचार-5	मुकुन्द लाठ	107
2.	भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार	अम्बिकादत्त शर्मा	135
3.	भारतीय दर्शन की समसामयिक अन्वीक्षा : कविराज जी का दृष्टिकोण	नवजीवन रस्तोगी	149
4.	श्री अरविन्द की वेद-मीमांसा	रमेशचंद्र शाह	159
5.	भारतीय परंपरा में नारी की अस्मिता	यशदेव शल्य	169
6.	'सत्य' शीर्षक लेख पर स्पष्टीकरण	यशदेव शल्य	179

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत
दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर पुरस्कार तथा मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
2.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
3.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
5.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00
6.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म और नीति
मानव कर्म के संबंध में उपेय-विचार - 5
(अन्य की सत्ता)

मुकुन्द लाठ

नृत्त के *शरीर* पक्ष की ओर ध्यान दिलाते हुए बात आगे बढ़ाना चाहता हूं। नृत्त शरीर के समूचे नख-शिख को अपने औचित्य-प्रसार में समेटता है। मानो शरीर की रग रग को अपने सौष्ठव के छंद में ढाल लेना चाहता हो। कर्मेन्द्रियां इसका माध्यम बनती हैं। पर कर्मेन्द्रियाँ खुद भी किसी और आंतर सौषम्य का माध्यम होती हैं - जो आंतर प्रेरणा नृत्त-प्रज्ञा - या प्रतिभा - से अवतरित होंती हुई कर्मेन्द्रियों में समंजस स्पन्द जगाती है। नृत्त की यही प्रज्ञा-से-प्राण-मन-तन-तक-उतरती प्रसृति, जो बुद्धि को भी अपने अनुकूल रखती चलती है - यही नृत्त का मर्म है। भरत ने (एक पुराने आचार्य तण्डु का सहारा लेते हुए) शरीर के हर अंग-प्रत्यंग को - और इस नख-शिख को ही नहीं, अवयवी के रूप में समूचे शरीर के हर संभावित विक्षेप-वलन-वर्तन-प्रत्यावर्तन को भी नृत्त के अंगहार (अवयवी) का अंग बनाया है। नृत्त शरीर की गति ही नहीं स्थिति में भी स्फुरित होता है। आदर्श-रूप से एक अपनी तरह की सर्व-चित्त-वृत्ति-मयी, सर्वांगमयी संपूर्णता होती है नृत्त में, जो भीतर के सौष्ठव-प्रकाश को बाहर घर देती है।

या *देना चाहती है*, कहना चाहिये। नृत्त के अंतः-बाह्य को समेटते-पिरोते सर्वतोभाव को नृत्त का सहज कह सकते हैं, जहां विधि मानो निरवरोध उपयोक्ता-उपाय-उपेय में व्यापृत होती है। पर किसी भी वास्तव नृत्त में - हमारे प्रयत्न से अभिव्यक्त नृत्त में - इसका संकेत ही मिलता है। इसका सत्य तो शिव के नृत्त की *कल्पना* है जो इस संकेत से जागती है।

इसका कारण है कि नृत्त - या *हमारा* नृत्त कहिये - आत्मचेतना को भी पूर्व-कल्पित करता है। और नृत्त वास्तव में करते हम ही हैं। पशुओं का नाचना तो नृत्त की छाया ही है - उसमें स्वातन्त्र्य नहीं होता। उसे नाच के रूप में देखते हम ही हैं। यह कहा जा सकता है कि पशु के लिये वह हम से कहीं अधिक सहज, अनायास है। पर पशु का सहज स्वातन्त्र्य का सहज नहीं होता, उसे विशुद्ध संस्कार का सहज कहा जा सकता है। संस्कार के ऐसे निर्विचार, सचेतन-यत्न-हीन प्रवाह का हमें भी अनुभव होता ही है। पर अपने संस्कार-मय होने का अनुभव हमें संस्कार में नहीं, आत्मचेतना में होता है। संस्कार स्पष्ट ही आत्मचेतना से अधःतन होता है। पर एक और भी सहज है जो आत्मचेतना से ऊर्ध्वतन होता है - यहीं विधि का इंगित जागता है। आत्मचेतना जब अपनी प्रयत्नमयी प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर सहज हो जाना चाहती है तो जो सहज सधता है - जितना भी सधता है - उसे संस्कार नहीं कह सकते। वह स्वातन्त्र्य का सहज होता है, निरे संस्कार का निसर्ग-सिद्ध सहज नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तभी वह *साध्य* होता है। हम स्वातन्त्र्य में ऐसी प्रेरणा का अनुभव करते हैं जो मानो हमारी संपूर्ण प्रवृत्ति को साध्य बना लेना चाहती है। पर *वास्तव में* ऐसा हो पाता नहीं है - और हम यह जानते हैं। हम अपनी साधनाओं में, साधना-प्रसूत कृतियों में, इसका संकेत ही पाते हैं।

संकेत संस्कार के हों या ऊर्ध्वतन प्रज्ञा के (विधि के), इनका ग्रहण हम अपनी आत्मचेतना में ही कर पाते हैं - क्योंकि वहीं हमारा ग्राह्य-ग्राहक-भाव हमारे बोध में जागता है। हमारे संकेत कहते हैं कि चेतना - या चैतन्य कहिये - उसका प्रसार आत्मचेतना के ऊपर-नीचे दोनों ओर है। इसका हम अनुभव भी करते हैं - पर अनुभव *जागता* आत्मचेतना में ही है। यों आत्मचेतना को हम *मध्यस्थ* कह सकते हैं। आत्मचेतना की मध्यस्थता ही हमें मनुष्य बनाती ३। इस मध्यस्थता को हम अपना *स्वभाव* भी कह सकते हैं - क्योंकि इसके बिना हम अपनी मनुष्य रूप में कल्पना नहीं कर सकते। अपने किसी *अपनेपन* का बोध नहीं कर सकते।

पर आत्मचेतना का *स्वभाव* है क्या? - यह भी एक सदा-खड़ा प्रश्न ही बना रहता है। आत्मचेतना में एक विचित्र विरोध का बसेरा है। उसमें अपने-ही-प्रति-जागता साध्यता-बोध किसी नियत-निर्धारित स्वभाव को नकारता चलता है। आत्मचेतना जितना ही जागती है उतना ही उसके लिये उसका अपनापन अधूरा-अधकचरा, अभाव-दिग्ध लगता है - स्वातन्त्र्य-बोध के साथ ही उसका पारतन्त्र्य भी बड़ी कचोट के साथ उसे अभिभूत कर लेता है। तभी कुछ लोग आज आत्मचेतना को एक अधृष्य कारावास ही बता देते हैं - जो अपने बंधन की टीस तो जगाती है, पर जिससे बाहर-निकलता कोई द्वार नहीं है। पर आत्मचेतना के पारतन्त्र्य-बोध को कैद कहिये, या उसे जो भी नाम दीजिये - इसका अधूरापन इसमें उभरता ही इसलिये है क्योंकि यह स्वातन्त्र्य का भी बसेरा है। हममें पारतन्त्र्य का बोध - या यों कहिये कि उसकी *आत्मचेतना* - आत्मचेतना में ही निहित द्रष्टृत्व के स्वातन्त्र्य में ही उजागर हो सकती है। यह भी आत्मचेतना के मध्यस्थ होने का ही संकेत है।

आत्मचेतना स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य के मध्य में है, इसीलिये अपने को साध्य पाती है। इसका स्वातन्त्र्य-भाव केवल द्रष्टृत्व या विशुद्ध साक्षित्व-रूप नहीं है, इसमें एक औचित्य-बोध भी स्पंदित रहता है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि इस बोध का अपना एक तंत्र है (अपना*स्व-तंत्र* है) जो पूरा हम पर स्फुट नहीं होता। पर क्या उचित है, प्रमाण है, निकष है, साध्य है, इसकी योजना-व्यवस्था के - या योजनात्मकता-व्यवस्थात्मकता कहना चाहिये - उसके संकेत उभारता रहता है।। इन्हें ही हम नियमों में, नियम-परंपराओं में, ढालते-बाँधते हैं, सीखते-सिखाते हैं। पर इन्हीं में फिर हमें बंधन का बोध होने लगता है - हमें लगता है हम इनके परतन्त्र हो गये। हम हताश ही न हो जायें तो इनके परे की आहट की ओर कान देते हैं। यह चरिष्णु यात्रा है, हम इसके अंत की कल्पना नहीं कर सकते।

जो लोग बंधन के अक्षुण्ण-से बोध से घुट कर, कुढ़ कर, या तिलमिला कर, आत्मचेतना को कारावास कहते हैं, वे यहां कह सकते हैं कि आत्मचेतना स्वतन्त्र सही, पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केवल द्रष्टा होती है - हमें अपनी विवशता दिखा देती है, कर कुछ नहीं सकती, उसकी अपनी कोई शक्ति, कोई व्यापार नहीं। वह मानो पारतन्त्र्य-बोध को उजागर करता निरा प्रकाश है - अपने आप में शून्य, निःस्वभाव। पर यह बात ठीक नहीं। क्योंकि अगर यही बात हो - आत्मचेतना साक्षी मात्र हो - तो उसके होने भर से हमें विवश या परतन्त्र होने का बोध ही क्यों हो? इसके लिये तो उसमें साक्षी-भाव के साथ औचित्य-बोध अपेक्षित है, जिसके बिना 'मैं विवश हूं, या परतन्त्र हूं', जैसे किसी अध्यवसाय या अनुभव की बात निरर्थक होगी। आत्मचेतना में केवल बोध ही नहीं, एक *प्रवृत्ति* होती है - एक शक्ति, जो आत्म में अवद्यत्व का ही नहीं, साध्यत्व का भी बोध जगाती है और हमें कुछ साधने के मार्ग पर चरिष्णु भी करती है। जो आत्मचेतना को अलंघ्य कारावास कह रहा है वह भी विचार *करने* में तो अपने को स्वतन्त्र और समर्थ पाता है - नहीं तो कारावास की बात को किसी युक्ति-तर्क या सत्य के किसी दावे के साथ *उठाने* का कोई अर्थ नहीं बनता। 'हम विचार के साक्षी होते हैं', यह अनुभव विचार में ही गुँथा रहता है। पर हम विचार करते हैं तो यह भी बोध करते हैं कि विचार का स्व-बोध - उसका स्व-साक्षी-भाव - विचार को केवल निःसंग *देखता* ही नहीं है वह विचार में विचार के साथ *चलता* भी रहता है - विचार का साक्ष्य विचार की गतियों में, उसके अध्यवसायों में, अनुप्रविष्ट रहता है - स्व-परीक्षा की ही नहीं, स्व-परिवर्तन की शक्ति रखता है : हमारा प्रमाण-बोध, युक्ति-बोध, ये विचार के साक्ष्य में अंतर्निहित होते हैं। और ये हमारे विचार के द्रष्टा ही नहीं होते, उसके सारथि भी होते हैं। विचार-कर्म कर्म है तो उसके द्रष्टा में एक संकल्प भी जागता है, जो कि हमारे सभी कर्म में उजागर रहता है। हम अपने विचार के ही नहीं अपने आचरण के भी साक्षी होते हैं, और वहां तो साक्षी-भाव के साथ संकल्प को भी स्फुट ही पाते हैं। कर्मेन्द्रियों के रास्ते उसे रूप देने में भी समर्थ होते हैं। हमारे कर्म का साक्षी हमारी कर्मेन्द्रियों से अलग खड़ा केवल टकटकी नहीं लगाये रहता, उनकी करनी का प्रेरक भी होता है।

कहा जा सकता है कि हम अपनी भावना में अपने को बेबस पाते हैं। भावना हम पर सवार हो कर मनमानी करती है, हमें अपने साथ खींचती ले जाती है, और हम लाचार देखते रहते हैं (*कहते थे न जायेंगे, न जायेंगे, उस गली / हो कर के बेकरार देखो आज फिर चले*)। यह ठीक है कि कलाओं का हमारे भाव-बोध से भीतर का संबंध है, और कला में भी अपना सा द्रष्टा-भाव और साथ ही अपनी सी स्वतन्त्र *करनी* होती है, जिसे हम अपने से अलग *कृति* का रूप भी देते हैं, भाव-से-स्वाधीन संकल्प के साथ देते हैं, भाव-विवश आवस्था में नहीं। पर इसके बावजूद, हम फिर भी कह सकते हैं (और ऐसा कहा भी गया है) कि कला हमारे भाव जगत् का *उद्घाटन* तो करती है, उस जगत् में *साध* कुछ नहीं सकती। एक हद तक बात ठीक है। पर इतना तो फिर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कला भाव-प्रदर्शन ही नहीं करती, भाव का उद्दीपन भी करती है - नहीं तो कला पर - या उसके कुछ रूपों पर - नियन्त्रण की बात बार बार नहीं उठती रहती। कहा जा सकता है कि उद्दीपन की कोटि में हम भाव को नहीं, केवल आवेग को रखते हैं। पर आवेग को यों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव से नितांत अलग कोटि में रखने में कोई औचित्य है तो यही हो सकता है कि भाव आवेग की तरह हमें अपने अधीन नहीं कर लेता। आवेग और भाव में अंतर क्या किया जाये, यह अपने आप में पते का प्रश्न हो सकता है, पर स्पष्ट ही भाव-जगत् विराट् है और साध्य भी - हम गहरे और उथले, स्थूल और सूक्ष्म, उदात्त और अनुदात्त भावों में विवेक करते हैं, भाव जगाते हैं, साधते हैं - सहानुभूति को लीजिये, भक्ति को लीजिये। हम मान भी लें कि *कला* भाव-*साधना* नहीं है - उसमें अपनी तरह का अंतःमंथन तो होता है पर वह विचार की तरह ही प्रधानतः द्रष्टा है, साधक नहीं, तो भी इस आधार पर भाव-साधना के क्षेत्र से ही इन्कार नहीं कर सकते। आचरण की तरह हम भाव की साधना करते ही हैं - बल्कि दोनों का एक-दूसरे में अनुप्रवेश भी पाते हैं।

अपनी हर साधना में हम चेतना के सोपान भी पाते हैं। इस लेखमाला के आरंभ में ही मैंने भोक्तृत्व के सहज इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय के संबंध के बीच विषय-भोग में ही अनायास उभरते, चेतना के प्रत्यङ्मुख होते - अपनी ओर ही अपने भीतर मुड़ते, ऊपर उठते सोपान की बात की थी। *रुचि* और *रस* में तत्त्व-भेद किया था - जहां आत्मचेतना को हम स्फुट से स्फुटतर होते, गहराते, स्वतन्त्र-उदात्त होते देख सकते हैं। आगे के लेखों में इसी तारतम्य को बढ़ाते हुए मैंने *विधि* की बात उठाई थी, जहां चेतना आत्मचेतना के परे के सार्थक संकेत पाती है - *नियम* की विवेचना में और फिर *नृत्त* की चर्चा में यही उभारने का प्रयास था। कह सकते हैं कि अब तक की चर्चा में विचार का एक जागरूक लक्ष्य यह दिखना रहा है कि आत्मचेतना कैसे चेतना से आत्मचेतना की ओर बढ़ती हुई दिखती है और फिर उसके आगे का अंतरिक्ष समोती है।

अर्थ यह भी है कि आत्मचेतना अपने को स्वप्रतिष्ठ नहीं पाती - ऊपर-नीचे दोनों ओर परिधि का निराकरण करती है। फिर भी, मैं समझता हूं, हम उसके एक अपनेपन की भी बात कर सकते हैं। उसकी अलग पहचान देखी, और एक सीमा तक आँकी भी जा सकती है - चाहे *रेखांकित* न की जा सकती हो। उसे हम मध्यस्थ के रूप में पाते हैं। मध्यस्थ होता वही है जो अपने विवेक में रहता हुआ भी अपने में ही अपचित हीं हो जाता -किसी सर्वथा अन्य-से-अछूते स्व-स्वभाव से अपने में बँधा-सीमित नहीं होता, अपने से इतर के- अपने से परे के - प्रति जागता है, उसे समोता है। पर उसे परखता भी हैं। हमारा विमर्श, हमारा परीक्षण, ये आत्मचेतना की अपनी पहचान हैं। इसे बुद्धि-चेतना भी कह सकते हैं। साथ ही इसे आत्मचेतना की मध्यस्थता का 'स्वायत्त' व्यापार भी कह सकते हैं। प्रश्न, संशय, अध्यवसाय, परख, अनुमान, निगमन, निर्णय ... ये यहीं जागते हैं। इन्हीं के जागते, इन के मध्य हम मध्यस्थ होते हैं और यहीं नियम-बोध भी रूप लेता है।

तभी इस मध्यस्थ-भाव के लिये एक पुराना और अर्थ-गंभीर शब्द है : प्राश्निक। (जब लव और कुश ने राम की सभा में रामायण का गान किया तो सभासदों में संगीत का ज्ञान और परख रखनेवाले भी थे, जिन्हें प्राश्निक कहा गया है)। प्राश्निक सृजन के परंपरा-प्राप्त नियत रूपों और मार्गों को जानता है, नई अभिव्यक्तियों को परखता है - शास्त्र-ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और संवेदना, दोनों का धनी होता है, इसलिये दोनों पर प्रश्न भी करता चल सकता है। यही आत्मचेतना का गुण-धर्म है। आत्मचेतना ही प्राश्निक होती है। हमारी कोई अभिव्यक्ति अगर इस प्राश्निक की परख में खरी न उतरे तो फिर हम उस अभिव्यक्ति को प्रतिभा के साथ जोड़ने पर ही प्रश्न का घेर डाल देते हैं। हमारे लिये प्रतिभा प्राश्निक की मध्यस्थता को नकारती नहीं है; पर हां, उसे विस्तार दे सकती है। तभी राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा की ही नहीं, भावयित्री प्रतिभा की (प्राश्निक की प्रतिभा) की भी बात की है। कारयित्री और भावयित्री का भेद, और उनके सम्बन्ध, दोनों ही जटिल ही नहीं, धूमिल भी जान पड़ते हैं, किसी रेखा या लक्षण की पूरी पकड़ में इन्हें बाँध लेना संभव नहीं लगता, पर इनका भेद भी हम पर उजागर रहता ही है।

कहा जा सकता है कि इन दोनों के बीच किसी लक्ष्मण-रेखा की पहचान न कर सकना इस बात का भी इंगित है कि हम आत्मचेतना के किसी 'स्वभाव' या 'तत्त्व' की बात नहीं कर सकते। उसे 'प्राश्निक' कहना भी उसे परिभाषित कर परिधि में बाँध देना है, जो हमें नहीं करना चाहिये। बात में सत्य है। पर बात यहां परिधि या परिभाषा की नहीं है। एक सार्थक व्यावर्तन हममें जागता है, जिसे विमर्श और प्रज्ञा का या प्रतिभा और प्राश्निक चेतना का भेद कहना अनुचित नहीं जान पड़ता। पर यह भी है ही कि भेद ही यहां जिस संबंध की मांग करता है उसमें परस्पर-अनुस्यूति उभरती है।

कुछ लोग आत्मचेतना को विमर्शमयी और औचित्य-बोधमयी मानते हुए ही स्वप्रतिष्ठं और स्वतोप्रमाण कहने की ओर भी बढ़ते रहे हैं - पिछले यूरोपीय चिन्तन में यह बात साफ देखी जा सकती है। तभी 'आधुनिक' मनीषा में मनुष्य को 'सब कुछ का परम प्रमाण' (*मैन इज़ दि मेज़र ऑफ ऑल थिंग्स*) मानने की प्रवणता गहराई है। 'रीज़न' (जिसे यहां विमर्श ही समझना चाहिये) उसे ज्ञान और औचित्य का उत्स और निकष कहने का आज यही अर्थ है, चाहे प्राचीन ग्रीस में रीजन का ऐसा मनुष्य-केन्द्रित और बुद्धि-मात्र-निष्ठ विमर्श-केन्द्रित अर्थ न रहा हो। प्राचीन चिन्तन में रीज़न बुद्धि ही नहीं, बुद्धि के परे प्रज्ञा को भी स्वीकारता-समोता था (शिव - 'गुड' -का बोध जिस रीज़न को होता है उसे मनुष्य की आत्मचेतना और उसके अपने विमर्श-व्यापार में अपचित नहीं किया जा सकता)। पर मनुष्य को सब कुछ का निकष कहना इस अपचय-दृष्टि की ही अभिव्यक्ति है। इसे ही मानवतावाद का नाम भी दे देते हैं।

पर स्पष्ट ही, *हम यहां* आत्मचेतना की प्राश्निक वृत्ति को स्वप्रतिष्ठ, अपने-आप-में-संपूर्ण, निरपेक्ष-स्वभाव नहीं कहना चाहते। अब तक जो कहा उससे साफ है कि ऐसा कहने का यहां कोई इरादा नहीं है। फिर भी आत्मचेतना के एक अपनेपन की बात हम करना चाहते हैं। *भेद* के आत्मबोध को ही लीजिये। यह विमर्श की धरती पर जागता है - भेद क्या?, कैसा?, ऐसे प्रश्नों को समोये रहता है, (प्राश्निक होता है) और चेतना यहां 'स्वभाव से' अपने को अपने प्रति चेतन पाती है - अपने आत्म में ही एक स्व-निष्ठ भेद देखती चलती है, और लगता है इसके बिना भेद का आत्म-बोध ही संभव नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राश्निकता विमर्श-गर्भ होती है और विमर्श भेद-गर्भ। हम यहां तक कह सकते हैं कि हम विमर्श कर सकते हैं तभी आत्मचेतन भी हैं। पर हमारा विमर्श अपने से परे के इंगित पालता है। अपने को स्वप्रतिष्ठ नहीं पाता। *सार्थक* भेद करने में भी यह इंगित जागता है। विमर्श जिस *पर* विमर्श करता है, चाहे वह बाह्य जगत् हो या अपने ही (विमर्श के) निकष, उसे अपने से परे पाता है - और अपने को इन्हीं के भीतर भी पाता है। विमर्श का स्थान चेतना के व्यापकतर प्रसार के भीतर है, पर इसका यह भी अर्थ है कि उसका अपना भी स्थान *है*। विमर्श अपने से परे का ग्राहक होता है, पर उसके ग्रहण में उसका प्राश्निक 'स्वभाव' जागता रहता है, अपने स्वरूप और अपनी सार्थकता पर प्रश्न उठाता चलता है - तभी उसमें एक चरिष्णुता की प्रेरणा रहती है। परीक्षा की अनमिट लगन, प्रमाण की निरंतर खोज - जो कुछ पा भी ले तो फिर अपने परे के निकष की ओर उन्मुख होती है।

यह सच है कि प्राश्निक कुछ नियमों को, अपेक्षाओं को आधार बनाता है। हमारा विमर्श-बोध स्थिर आधारों की तलाश भी करता है - 'सत्य और सत्य का निकष स्थिर ही होना चाहिये' यह बोध हमारे विमर्श में अगाध है। पर साथ ही हम यह भी उतनी ही गहराई से बोध करते हैं कि भाव, ज्ञान, कर्म, या अपनी किसी भी अर्थ-साधना में हम जिस तत्त्व को रूप देना चाहते हैं, वह हमारी अपनी समाई में नहीं है। जो कुछ समाई में आता है वह भी हमारी प्राश्निक आँखों से उतर उतर जाता है। पुरुषार्थ के किसी भी क्षेत्र की किसी भी रूप-साधना को नियत कर देना, जो हम करते ही चलते हैं, इस में हमें झूठ भी समोया दिखता है। और तब भी हमें यह लगता है कि नियम बाँधना - अपने साध्य रूपों को नियत करते रहना - यह भी हमारी आत्मचेतना की अपरिहार्य नियति है - हम मर्यादा-जीवी हैं, और हमारा यह स्वभाव - या प्रवृत्ति कहिये - इसका बीज भी हमारी आत्मचेतना में ही है, उसके विवेक में (उसके औचित्य-बोध में)। या यों कहें कि उसके उसी स्वभाव में जो उसे प्राश्निक भी बनाता है। आत्मचेतना में निहित इस विचित्र से विरोध – या चाहें तो विरोधाभास ही कह लीजिये – के कारण ही हम एक ओर अपनी हर प्रवृत्ति की, हर साधना की मर्यादा को कस देने की ओर झुकते रहते हैं, पर दूसरी ओर यह जानते भी रहते हैं कि प्रवृत्ति चाहे कितनी ही नियत कर दी जाये, अनुवृत्ति नहीं हो सकती - न होनी चाहिये - क्योंकि नियम-बोध औचित्य-बोध का अंग होता है, और औचित्य-बोध स्वरूप से प्रतिभा की खोज में अस्थिर है। क्योंकि एक ओर अगर वह स्वभावेन अपना घर अडिग, टिकाऊ स्तंभों पर बाँधना चाहता है, वहीं दूसरी ओर अपनी स्तंभ-निर्मिति पर भी सदा प्राश्निक ही रहता है।

आचरण में आत्मचेतना का विवेक मनुष्य को आत्मस्थ करता है (उसे एक अहंबोध या 'मैं' होने का निबिड़ अपनापन ही नहीं, एक *आपा* देता है) - औचित्य-बोध के साथ उसमें अपना ही सारथि होने की अस्मिता जगाता है। आपे में होना 'मैं' होने से ऊपर विवेक की धरती पर होता है - तभी 'आपे से बाहर होना' अहंभाव से बाहर होना नहीं होता, उलटे वह अहंभाव से आक्रांत हो जाने की अवस्था होती है। नियम, मर्यादायें, ये आत्मस्थता को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊह्य रखते हैं - आत्मस्थ होना उनका प्रहरी होना भी होता है। पर आत्मस्थ होना - यह भी हमारा कोई सर्वथा सिद्ध स्वभाव नहीं - आदर्श ही है। हम मनुष्य-समाज में जन्मे हों, भाषा-भाषी हों - जो कि हम होते ही हैं - तो आत्मचेतना हममें अनायास होती है - कह सकते हैं कि वह किसी अर्थ में 'सिद्ध' होती है । पर उसका सिद्ध होना, साध्य होने का उपजीवी भी होता है। जैसे मनुष्य के बीच समाज-संस्कृति में रहते हुए भाषा का ज्ञान सहज है, वैसे ही आत्मस्थ-भाव भी सहज है। पर एक गहरा अंतर भी है। भाषा हम बड़ी छोटी अवस्था में सीख जाते हैं। पर आत्मस्थ नहीं होते, न कहलाते हैं। आत्मस्थ कब होते हैं, इसकी अवधि नहीं बाँधी जा सकती - हालांकि आज का कानून ऐसा करता है - पर फिर भी वयस् के साथ इस बात का संबंध स्पष्ट है। पर एक और संबंध है जो भीतर का है - एक योग्यता जो 'अधिकारी' बनाती है - अन्यों के बीच रहते हुए अपने आचरण का निर्णय स्वयं ले सकने की क्षमता और अधिकार देती है। अधिकारी होना - अनुभव में यह सामान्य सी बात है; और हम इस बात की भी तोल-परख - या कम-से-कम इस बात का अध्यवसाय करते रहते हैं कि अमुक सचमुच स्वतन्त्र - या शायद 'स्वनिष्ठ',या 'स्वायत्त', कहना चाहिये ऐसे आचरण के योग्य–हुआ या नहीं। स्वनिष्ठ आचरण के अधिकार के योग्य होना - या जिसे हम 'आत्मस्थ' कहते आये हैं, वह होना - भीतर की इस योग्यता का लक्षण क्या किया जाये, यह इतना सुगम नहीं जितना यह अध्यवसाय कि, 'हां, अमुक आत्मस्थ है, या अभी ठीक ठीक हुआ नहीं, कसर रह गई है'। आत्मस्थ होने का लक्षण करें तो कहा जा सकता है कि बुद्धि या प्रज्ञा या विवेक के परिपाक की एक सार्थक भूमि या सीढ़ी पर होना, और साथ ही एक दायित्व-बोध का होना - या यों कहें कि अपने किये को अपना सकने, उसके फल को झेल सकने की क्षमता, दूसरे शब्दों में एक *आपे* का परवान चढ़ना, यह मनुष्य को अधिकारी बनाता है।

इससे यह भी निकलता है कि हम भाषा को जैसे सहज ही आत्मसात् कर लेते हैं *आत्मस्थ* उस निष्प्रयत्न-भाव के साथ नहीं होते। होना सीखते हैं। यह अपेक्षया *सीखने-साधने* की बात है, मनुष्य-समाज में होने भर के संस्कार की बात नहीं है। पर हम जिस संस्कृति में होते हैं उसके ही मार्ग पर आत्मस्थ होना सीखते हैं । इस सीखने का शिक्षा से संबंध है। पर जिसको औपचारिक शिक्षा कहा जा सकता है–पढ़ना-लिखना, परिनिष्ठित शास्त्र-विद्या का ज्ञान– इससे उसका संबंध नहीं है। जिन्हें हम 'अनपढ़' कहते हैं, वे 'अनात्मस्थ' नहीं होते, यह तो हमें दिखता ही है - अगर हम किसी आग्रह विशेष के मारे नहीं हों तो देख सकते हैं कि ऐसे '*सभ्य*-इतर' कहलाने वाले समाजों में, जहां अक्षर-ज्ञान की बात ही नहीं उठती, शास्त्र या विद्या की तो बात ही क्या, वहां भी आत्मस्थ होने के आदर्श होते हैं, दीक्षा-शिक्षा होती है। 'शिक्षित' होना 'पढ़ा-लिखा' होने से भिन्न और कहीं व्यापक आदर्श है। अभी जो बात कही उससे यह भी प्रकट है कि आत्मस्थ होने का संस्कृति के साथ ही नहीं संस्कृति-*भेद* के साथ भी गहरा संबंध है। एक बात पर तो इस प्रसंग में पहले ही ध्यान जा सकता है। कई संस्कृतियों में - अकसर संकृतियों में ही -

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्यों के एक बड़े भाग को अत्मस्थ होने के लायक ही नहीं समझा जाता। अपने यहां स्त्री-शूद्रों को इसी कोटि में रखा जाता था - और यह संस्कार अभी भी काफी बद्धमूल है। स्त्रियों को आत्मस्थता के क्षेत्र से बाहर रखना तो ऐसे सभी समाजों में रूढ़ था जिन्हें हम सभ्यता के आसन पर रखते हैं - पुरुषों के भी एक बड़े वर्ग को (जैसे पश्चिम में दासों को) भी स्वभाव से ही अनात्मस्थ - या अस्वतन्त्र माना जाता था - आचरण-व्यवहार में विवेक से निर्णय लेने में असमर्थ। इस प्रथा ही में कितनी विवेकहीनता है, टीका की आवश्यकता नहीं। पर दूसरी ओर एक वयस् विशेष के साथ मनुष्य को स्वतः ही आत्मस्थ मान लेना - इसमें में एक उदारता हो भी -तो भी बड़ी निर्विचार सी - बड़ी जड़ सी, महज आँकड़ों में बसी - उदारता है। बात *विवेक* की नहीं कही जा सकती। हां, यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था - या दृष्टि, या मनीषा कहिये - शिक्षा को आत्मस्थता से भी जोड़ती है; इसका *आदर्श* शिक्षा की सार्वजनीनता को उतना ही महत्त्व देना *चाहता* है जितना वयस् को। उस शिक्षा का आत्मस्थता से कितना संबंध है, प्रश्न हो सकता है, पर इस बहस में यहां नहीं जाऊंगा।

सही प्रश्न यह है कि आत्मस्थ कहें किसको? यह चिरन्तन प्रश्न है, और रहेगा। इसका एक सीधा सा - निचला सा - लक्षण हो सकता है : 'एक मर्यादा के निभाव के साथ अन्यों के साथ जी सकना'। पर यों बात को रखें तो बात विवेक के साथ स्वतन्त्र होने की - दूसरे शब्दों में, *आत्मस्थ* होने की - उतनी नहीं जितनी एक नियत गति को किसी हद तक सचेतन हो कर अपना सकने की है। व्यवहार-क्षम होने की, लोकयात्रा के यात्री हो सकने की बात है, स्वतन्त्र विवेक की उतनी नहीं। तभी आत्मस्थता की सीढ़ियों की बात की जाती है - और ठीक ही की जाती है। कहने को कहा जा सकता है कि अपने बस में - स्वायत्त - रहते हुए अन्यों के साथ व्यवहार कर पाना, यही आत्मस्थता की पहली और सबसे बड़ी शर्त है। पर अगर शर्त यही है तो कमज़ोर शर्त है - जीवन-प्रवाह को प्रवाह भर रखने की शर्त है। शर्त एक तरह की 'स्व-स्थता' चाहती है, एक ऐसा 'आपा' है जो स्व की अन्य-संगति के लिये अनिवार्य है। पर ऐसा आपा तो पशुओं में भी पाया जाता है - पशु भी अन्यों के साथ निभाव करते हुए ही अपना स्व बनाये रखते हैं! आत्मचेतना की यहां फिर से बात उठाई जा सकती है - पशु आत्मचेतन नहीं होते; उनके अहं की बात हो सकती है, *आपे* की नहीं। आपा साध्य होता है, पशु के अहं की तरह सिद्ध नहीं - उलटे निरंह हो पाना उसकी एक नींव की शर्त है। बात ठीक है, पर अगर यही बात है तो मर्यादा का एक गतानुगतिक निभाव करते हुए अन्यों के साथ लोकयात्रा का सहयात्री हो सकना, आत्मस्थता बस इतनी सी बात नहीं हो सकती - चाहे लोक-व्यवहार को देखते हुए इसे ही उसकी पहली शर्त - या उसकी नींव भी - मानने को हम किसी रूप में बाध्य-से हों।

पर यहां आत्मस्थता के विचार से एक बार हटते हुए एक और प्रश्न उठाना चाहता हूं जिसका पिछले लेख में भी उल्लेख कर आया हूं, यह कह कर कि प्रश्न बाद में फिर उठाऊंगा। विचार या दर्शन की परंपरा में प्रश्न पुराना है। प्रश्न है : अन्य के होने का प्रमाण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या? हम अन्य - अपने जैसे *अन्य* - के *होने* को ऊह्य रखते हुए आत्मस्थता की बात कर रहे हैं, पर अन्य *है*, इसका प्रमाण क्या? प्रश्न एकबारगी विचित्र ही नहीं, अनहोना सा लग सकता है, क्योंकि अपने अनुभव में हम अन्य को स्व पर हावी ही पाते हैं। अपने भीतर झाँकते हैं तो अन्यों का राज-सा दिखता है, अपने स्व को हम उन के द्वारा आक्रांत न भी सही तो उनका अपेक्षी तो पाते ही हैं। या यों कहिये कि अन्य के बिना हम स्व की कल्पना नहीं कर सकते। पर प्रमाण-मीमांसा की अपनी असाधारण गति भी होती जो स्वभाव-सुलभ को भी प्रश्न के घेर में डाल देती है। हम साधारण बोध और संस्कार से हट कर प्रश्न करने लगें - प्रश्न उठते ही तभी हैं - तो *स्वभावतः* ही प्रश्न उठता है कि क्या अन्य सचमुच है? क्या उसकी कोई अपनी सत्ता है? लगती है, पर क्या सचमुच है भी? और है तो इस बात को मानने का आधार क्या? यही प्रश्न जगत् के विषय में भी उठता है - क्या जगत् है? या लगता ही है कि है? है तो इसके होने का प्रमाण क्या? क्या प्रमाण कि इसका बोध भ्रांति नहीं है ? या जगत् को एक बार अलग रखें, क्योंकि जगत् की सत्ता को हम भ्रांत मानें या जो भी मानें, जगत् की धारणा में ही एक पहेली सा विराट्-भाव है (हम जो प्रश्न करते हैं, हम भी, हमारा प्रश्न भी जगत् में ही है)। 'जगत् क्या है?' जैसा प्रश्न साधारण प्रमाण-मीमांसा की परिधि से बाहर खड़ा जान पड़ सकता है - यह विचार को प्रश्नाकुल करता है, पर यह एक विचित्र अगाध की ओर ले जा सकता है जहां हम ठिठक कर रह जायें, कुछ कह, कर न सकें। प्रश्न घट, पट, पत्थर, पहाड़, नदी, नाले, यह सामने रखा कम्प्यूटर, जिस पर मैं लिख रहा हूं, इन पर आ टिकता है। (इस बोध के साथ कि ये *हैं*, तो जगत् *है*)। ऐसी वस्तुओं के होने में इन्द्रिय-बोध को प्रमाण माना जाता है - या *प्रत्यक्ष* कहिये। ये साक्षात् इन्द्रिय-बोध का विषय होती हैं, इसलिये हैं। साथ में यह भी जोड़ दिया जाता है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान मुझे ही नहीं सबको होता है, इसलिये भी निर्भ्रांत है। ऐसा कहते हुए हम भूल जाते हैं कि 'सबको होता है' का हमें कोई प्रत्यक्ष नहीं होता। 'सब' की तो बात जाने दीजिये, किसी भी ऐसे दूसरे का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता जिसे घट, पट... का वैसा ही प्रत्यक्ष हो रहा हो जैसा मुझे हो रहा है। फिर भी घट, पट... की इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर सत्ता मानने वाला दार्शनिक प्रत्यक्ष को सर्वसाधारण *मान* कर चलता है, नहीं तो मेरा अकेले का प्रत्यक्ष भ्रांत भी हो सकता है। दूसरे को भी हो तो भ्रांति दूर होती है। पर फिर यही प्रत्यक्ष-की-दुहाई-देता दार्शनिक प्रश्न उठाता है कि, दूसरे के होने का प्रमाण क्या? उसका तो प्रत्यक्ष नहीं होता। अन्य देह का प्रत्यक्ष चलिये मान भी लें तो भी उस *देही* का प्रत्यक्ष तो नहीं होता जो मेरी तरह घट का प्रत्यक्ष करता है। फिर उसके होने का क्या प्रमाण? पर उसके साक्ष्य को प्रमाण-बाहर करने का रास्ता लेने में भी प्रत्यक्षवादी को मानो प्रमाणत्व की ही हानि भी लगती है। जो भी हो, इन्द्रिय से वस्तु का ज्ञान मानने का चलन रहा है, तभी अन्य व्यक्ति का - देही का - ज्ञान मानने में टेढ़ी समस्या ही खड़ी दिखती रही है। अन्य को अकसर दार्शनिक ऊह्य ही मान लेते हैं। कांट के दर्शन का एक बड़ा और - उसकी दृष्टि में उच्चतम - स्तंभ (संकल्प में स्वातन्त्र्य की संभावना) ही अन्य के होने पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

टिका है। पर कांट में अन्य के होने का कोई प्रमाण नहीं है - न उसके विचार-तंत्र से इसका कोई रास्ता निकलता है। वस्तु के होने को वह इन्द्रिय-बोध और बुद्धि के अपने स्वनिष्ठ तन्त्र का आधार दे कर खड़ा करने की बड़ी पैनी और महती चेष्टा करता है, पर अन्य का होना इस चेष्टा के घेर में ही नहीं आता। किसी भी गहराई से देखें तो कांट की दृष्टि में अन्य ही वास्तव में *है*, क्योंकि स्वातन्त्र्य में किया गया संकल्प ही *होने* का मर्म है। संकल्प अन्य के प्रति किया जाता है; किन्तु अन्य उसके दर्शन में असिद्ध ही रहता है। कहा जा सकता है कि *स्वरूपेण* असिद्ध रहता है, क्योंकि उसके तंत्र में ऐसी सिद्धि की कोई गुंजाइश नहीं है। फिर भी सच पूछिये तो कांट के लिये अन्य की सत्ता उन वस्तुओं से कहीं अधिक वास्तव है जिनकी सिद्धि के लिये वह अपना विपुल विचार-तन्त्र खड़ा करता है। उसके यहां इन्द्रिय-गम्य वस्तु तो स्वलक्षण ही रह जाती है (अपने आप में अज्ञेय), उसका ज्ञान (और यों, फलतः, उसका होना) बुद्धि के अपने तन्त्र का आरोप है - मनुष्य का वस्तु-ज्ञान चेतना-तंत्र है, और चेतना की वस्तु तक पहुँच नहीं। यों वस्तु वस्तु-ज्ञान का आरोप है; आरोप अनिवार्य है, क्योंकि चेतना के वस्तु-बोध में निहित है, पर है वस्तु आरोप ही। पर अन्य आरोप नहीं है, स्वतन्त्र है, जैसे हम हैं, और कांट में सत्ता की बात की जाये तो स्वातन्त्र्य की ही सत्ता है (वही सत् है) - वह सिद्ध उतना नहीं जितना साध्य है, पर वही *है*—घट, पट जैसी प्रत्यक्ष वस्तु का *होना* तो छलावा ही ठहरता है - हमारी अंध कल्पना की प्रसूति।

क्या है? इस के ज्ञान में हम अगर ज्ञानेन्द्रियों को नींव की महिमा देते हैं तो फिर इन्द्रियों की पकड़ को उन वस्तुओं तक सीमित कर देना उचित नहीं जिन्हें हम भौतिक वस्तुएं कहते हैं। पिछले लेखों में कह आया हूं कि भाषा का ज्ञान भी तो हमें इन्द्रिय के ही माध्यम से होता है, और भाषा को 'भौतिक' कहना तो जगत्-सर्वस्व को एक ही कोटि में समेट देने की दिशा होगी। संगीत, भास्कर्य, वास्तु इन क्षेत्रों की कलाकृतियों के साथ भी यही बात है - संवेदना इनके अर्थ को इन्द्रिय की नींव पर ही रखती है (इन्द्रिय-बोध के बिना इनका कृति के रूप में बोध संभव नहीं), पर इन्हें 'भौतिक' कहने का क्या अर्थ होगा? यों भी इन्द्रिय जिस भौतिक 'वस्तु' के लिये भी प्रमाण मानी जाती है वह वस्तु उसे कहां दिखती है? जो दिखता है उन्हें हम वस्तु के धर्म (गुण) कहते हैं - इन धर्मों को स्वतन्त्र मान भी लें तो भी *धर्मी*, जो कि वस्तु होता है, वह तो इन्द्रिय-गम्य होता नहीं। कह सकते हैं कि धर्मी का ज्ञान अनुमान से होता है। पर यह कैसा अनुमान हो सकता है? अनुमान अगर प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष का होता है तो धर्मी *ऐसे* अनुमान का विषय कैसे होगा? उसका प्रत्यक्ष होता तो अनुमान की शरण ही क्यों ढूँढते? बात यहां अगर अनुमान की है तो 'अनुमान' शब्द के अर्थ को ज्ञान की किसी प्रत्यक्ष-बाहर पकड़ में ही ढूँढना होगा। नैयायिक, जो वस्तु-ज्ञान के लिये इन्द्रिय पर भरोसा करते हैं, वे यहां वस्तु के वस्तुत्व के लिये सामान्य या जाति की बात करते हैं और कहते हैं कि सामान्य का प्रत्यक्ष होता है। पर सामान्य या जाति का *प्रत्यक्ष* इन्द्रियों को कैसे हो सकता है? अगर हो सकता है तो इन्द्रिय को एक असामान्य सा व्यापक अर्थ दे कर ही हो सकता है। दूसरे लोग इन्द्रिय-ग्राह्य धर्मों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान, गौण, और एक तीसरी कक्षा-गत (टर्शियरी) धर्मों की बात करते हैं - इनमें प्रथम को ही वस्तुगत मानते हैं : वस्तु की देश में आकार-निष्ठ प्रसृति। रस, वर्ण, गंध आदि को गौण कहते हैं, इन्हें अवस्तुतंत्र मानते हैं। चेतना-तंत्र कहते हैं। कलाकृतियों में 'दिखते' सौंदर्य जैसे धर्म गौण धर्मों पर आरोप हैं - अर्थात् और भी परोक्ष हैं—तृतीय कक्षा-गत (टर्शियरी) हैं । पर इन्द्रिय-बोध की यह सारी व्याख्या ही स्पष्टतः इन्द्रिय के सहज अनुभव पर एक वस्तु-दृष्टि विशेष का आरोप है। यह एक व्याक्रिया है जहां बाह्य विषय की द्रष्टृ-चेतना बाह्य-विषय को एक स्व-निष्ठ स्वरूप देने की विशेष दिशा लेती है। यह कांट से विपरीत दिशा है, वस्तु को सचमुच वस्तु-तंत्र कर देना चाहती है। यह दृष्टि इन्द्रियों को वस्तु-ग्रहण में सक्षम मानती है - पर यह ग्रहण आविल है, इसमें सार-निःसार का भेद आवश्यक है, जो भेद इन्द्रिय नहीं बुद्धि-निष्ठ चेतना ही कर सकती है। इन्द्रियां तो गौण और तृतीय कक्षागत धर्मों का भी ग्रहण करती हैं। हां, चक्षु रूप का भी ग्रहण करती है - पर यह कहना कि रूप और उसकी देश में परिधि, यह वस्तु का धर्म है, शेष द्रष्टृ -चेतना-निष्ठ है, यह बात इन्द्रिय के आधार पर नहीं, चेतना के किसी और अभिप्राय से ही कही जा सकती है। यह दृष्टि भौतिक विज्ञान को वस्तु-ज्ञान के रूप में स्थापित करने की एक विशेष दार्शनिक चेष्टा है। इसे 'सत्य' की विशेष पकड़ नहीं कहा जा सकता।

यह भी देखिये कि इस दृष्ट में वस्तु अपना कोई भी अंतः-तत्त्व खो देती है। वस्तु वस्तु ही नहीं रहती - एक व्याक्रिया-ग्रस्त कल्पना हो जाती है। चेतना से उसका स्वातन्त्र्य भी एक आत्म-वंचना ही ठहरती है। क्योंकि चेतना से वस्तु को सचमुच स्वतन्त्र करना हो तो उसे इन्द्रियों से भी स्वतन्त्र करना आवश्यक है। चेतना के बिना इन्द्रियों के अपने ज्ञान की बात करना संभव नहीं। और *ज्ञान* की बात वास्तव में चेतना ही नहीं, आत्मचेतना और उसका विमर्श चाहती है। प्रधान, गौण, तृतीय कक्षा-गत गुणों की बात तो प्रकट ही विमर्श की बात है। इन्द्रिय वस्तु के संपर्क में होती हो तो भी वस्तु क्या, यह निर्णय चेतना का ही काम हो सकता है। यहां निर्णय का विशुद्ध विमर्श-प्राण होना इस बात से भी उभरता है कि वह वस्तु के उन गुणों को भी नकारता है जो इन्द्रिय-बोध में सार्वजनीन हैं - रस, गंध आदि। तात्पर्य यह भी है कि यहां अन्य का - मनुष्य-साधारण का - अनुभव प्रमाण नहीं है। उस अनुभव के अनावश्यक - विशुद्ध चेतना-गत, व्यक्तिगत (सब्जेक्टिव) और यों असत्य- भाग को छलनी से छान कर अलग कर देना आवश्यक होता है। और यह बात 'सब' नहीं करते, दृष्टि-विशेष करती है। सच पूछें तो इस 'वस्तुतन्त्र' दृष्टि में अन्य का कोई स्थान ही नहीं होना चाहिये। ज्ञान अगर वस्तु-तन्त्र है, और वस्तु की पहचान (किसी विशेष रूप से ही सही) इन्द्रिय-तंत्र, तो अन्य यहां क्या करेगा? इन्द्रिय-बोध में दूध का दूध और पानी का पानी मैं ही कर ले सकता हूं - बल्कि मैं *ही* कर सकता हूं, जो कि इसके उपाय को पकड़ चुका हूं।

मगर विडम्बना देखिये। इस दृष्टि में जिसे 'वस्तु' कहा जा रहा है वह विज्ञान की वस्तु है - या यों कहिये कि विज्ञान की वस्तु-खोज में वस्तु की पहली झलक है। यह खोज आगे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बढ़ती है तो इन्द्रिय को पीछे छोड़ती चली जाती है - व्याख्यामयी होती चली जाती है, ऐसी 'वस्तुओं को स्थापित करती है जो इन्द्रिय से परोक्षतर होती चली जाती हैं। यही नहीं, विडम्बना यह है कि यह व्याख्या-का-विमर्श-चाहती खोज अकेले की खोज नहीं होती है - व्यक्तियों का एक यूथ चाहती है जो इस खोज में सहकर्मी हों। हां, यह कहा जा सकता है कि अन्य की मांग यहां अन्य व्यक्ति-*विशेष* की होती है, जो *खोजी* हो सके। जिसे अपने यहां लौकिक और परीक्षक का भेद कहा जाता था, ऐसा भेद विज्ञान भी करता है। अपनी परंपरा बनाता है, उसे बढ़ाता है। पूरी तरह से अन्य-सापेक्ष होता है। पर अन्य के होने का उसके पास *प्रमाण* कहां? और हो भी कैसे सकता है? यह ठीक है कि वह इन्द्रिय से चलता है - पर इन्द्रिय की वस्तु-ग्राह्यता को जिस रूप में लेता है उसमें *अन्य* जैसी वस्तु के लिये तिल-मात्र भी स्थान नहीं। पर उसकी अपनी स्थापना अन्य ही नहीं अन्यों की एक पूरी परंपरा में होती है - जिसकी अपनी शिक्षा-दीक्षा, अपनी प्राश्निक परख, और यहां तक कि अपनी प्रतिभा भी होती है।

साफ ही इन्द्रिय-बोध को यों सीमित कर देने में गहरा घपला है। दुहाई यहां वस्तु-तंत्रता की दी जाती है। पर *वस्तु* को ही खोखला, एकांगी कर देती है यह दृष्टि - एक संकीर्ण आयाम में घेर देती है। थोड़ा भी भीतर उतर कर देखिये तो वस्तु-तंत्रता की जो शर्त यहां है उसमें कोई अनोखापन नहींहै - शर्त यह है कि वस्तु की बात सब्जेक्टिव नहीं ऑब्जेक्टिव होनी चाहिये। पर ऐसी बात का तात्पर्य क्या? 'सब्जेक्टिव' शब्द के प्रयोग से हम यहां कहना क्या चाहते हैं? क्या वस्तुज्ञान के व्यापार में सब्जेक्ट का ही - ज्ञातृ-चेतना का ही – निराकरण कर देना चाहते हैं? कभी कभी लगता है कि चाह कुछ ऐसी ही सी है - हम चाहते हैं कि इन्द्रिय-ग्रहण के प्रकार-विशेष को ही ज्ञान कहें, और बात को सब्जेक्ट की - ज्ञातृ-चेतना की - परिधि से ही हटा दें। पर इस बात के तो कोई मानी ही नहीं। इन्द्रिय का अपना क्या ज्ञान होता है जो चेतना की - सब्जेक्ट की- अपेक्षा ही न रखता हो ? इन्द्रिय-ज्ञान इन्द्रिय के *माध्यम* से ही ज्ञान हो सकता है। इन्द्रियां हैं, यह ज्ञान भी निरी इन्द्रिय से नहीं होता। इन्द्रिय क्या है? पत्थर-पहाड़ की तरह भौतिक वस्तु है या विचार की तरह अभौतिक ? क्या वह नदी-नालों की तरह बाह्य कुछ है या मन की तरह अंतः-स्थित, यह निर्णय भी टेढ़ा है। पिछले लेखों में हम उसे अंतः और बाह्य के बीच सेतु कह आये हैं। पर उसका स्वरूप क्या? इस पर क्या कहा जाये? कैसे कहा जाये? माना, इन्द्रियां देह का अंग होती हैं और यों उन्हें बाह्य कहा जा सकता है, पर देह भी तो देही के बिना कुछ नहीं होता! वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से तो न-कुछ-सा ही होता है। मूर्छा में या सुषुप्ति में देह की देही से अलग सत्ता मान भी लें तो भी ऐसी अवस्था ज्ञान की दृष्टि से भी शून्य होती है - इन्द्रियां कुछ व्यापार करती भी हैं तो भी किसी *वस्तु* से तो किसी भी रूप में उनके संपर्क की बात नहीं की जा सकती। बल्कि इन्द्रिय को ऐसी दशाओं में व्यापार-हीन ही कहना चाहिये - क्योंकि स्वप्न में भी हम उन्हें व्यापार-हीन मानते हैं, फिर सुषुप्ति की तो बात ही क्या! स्वप्न में इन्द्रियां सचमुच व्यापार-हीन होती हैं या नहीं, कह नहीं सकता - पर उन्हें बिल्कुल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्व्यापार भी कहा जा सकता है क्या? स्वप्न के भीतर हम देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, छूते हैं; वस्तु-बोध भी करते हैं, वस्तु को देश में प्रसृत देखते हैं। पर उस बोध को वस्तु-*तंत्र* नहीं कहते। पर क्या सपने को *सब्जेक्टिव* कह सकते हैं? यह ठीक है कि वह सब्जेक्ट को - चेतना को - होता है पर ऑब्जेक्टिव ज्ञान भी तो सब्जेक्ट को ही होता है! सपना सब्जेक्टिव-ऑब्जेक्टिव दोनों ही शब्दों के अर्थ के घेर से बाहर ही ठहरता लगता है। पर वह इसलिये नहीं कि उसमें इन्द्रिय का व्यापार होता या नहीं होता है, बल्कि इसलिये कि स्वप्न का जगत् सार्वजनीन नहीं होता। हमारी जागृत आत्मचेतना ही उसके सत्य पर प्रश्न खड़ा करती है। और आत्मचेतना का प्राश्निक रूप जागृत अवस्था में ही आत्मस्थ होता है। पर इस प्रसंग में तो यह सोचिये कि.जिस इन्द्रिय-दृष्टि की हम बात कर रहे हैं उसमें सार्वजनीनता के लिये स्थान ही कहां है? वह स्वप्न और जागृति में भी भेद नहीं करती, हालांकि उसे करना चाहिये - स्वप्न में भी वस्तु आखिर देश-प्रसृत ही दिखती है! यह बात इस दृष्टि के पक्ष में जाती है या विपक्ष में? पक्ष में इस युक्ति से ली जा सकती है कि वस्तु स्वप्न में देश-प्रसृत दिखती है तो यह उसके वास्तव-स्वरूप-को-उभारता एक *ऊपर से* पुष्टि-देता प्रमाण है। पर फिर प्रश्न होगा स्वप्न का *देश* क्या वही देश है, जो इस दृष्टि को उद्दिष्ट है? स्वप्न का देश, चित्र या वास्तु जैसी कला-कृति का देश, और जिसे हम भौतिक जगत् कहते हैं उसका देश, क्या इन सबको एक ही देश में अपचित किया जा सकता है? आप करना चाहें तो आधार क्या? भौतिक को ही वस्तु मानने वाली दृष्टियां ऐसे प्रश्नों की चर्चा नहीं करतीं। ये हमारे साधारण आचरण-व्यवहार के देश को ही देश-रूपेण सिद्ध-प्रदत्त *मान* कर चलती हैं, पर हमारा आचरण-व्यवहार-लोक तो अन्यों की उपस्थिति चाहता है - जो कि इन दृष्टियों में बनती ही नहीं।

सोचने की बात यहां यह भी है कि ज्ञान तो सब्जेक्ट को - चेतना को - ही होता है। प्रश्न यह है कि वह *सब्जेक्टिव* और यों हेय और त्याज्य (अप्रमाण) कब और कैसे हो जाता है? इस बात का उत्तर इन्द्रिय के अपने व्यापार पर, या जिसे इन्द्रिय-बोध का स्वायत्त स्वरूप कह सकें, उस पर निर्भर करता नहीं लगता। इन्द्रिय-बोध का कोई अपना स्व-निष्ठ स्वरूप है भी, यह भी विचार की ही बात है। अभी ऊपर मैंने स्वप्न की बात की। 'वस्तु' की बात करने वाले दार्शनिक बाह्य-जगत्-स्थित वस्तु की बात करना चाहते हैं, स्वप्न को इस बात की चौखट से ही अलग रखना चाहते हैं। पर स्वप्न के लिये अगर देह का होना आवश्यक है तो फिर क्या इन्द्रिय को हम नितांत अनावश्यक के पेटे में झट उठा कर डाल दे सकते हैं? विज्ञान के गवेषक कहते हैं कि हमें जब सपना दिख रहा होता है तो बंद पुतलियों के भीतर भी आँख घूमती रहती है। क्या उस समय वह निर्व्यापार होती है? हम कैसे कह सकते हैं? हम अगर कहें कि तब वह *देखती* कुछ नहीं, क्योंकि *बाहर* देख ही नहीं रही होती है, तो यह चक्रक दोष होगा - या अन्योन्याश्रय कहिये। युक्ति में साफ ही दोष यह होगा कि वह यह मान कर चल रही है कि आँख बाहर ही देखती है, सपने में बाहर कुछ नहीं होता इसलिये *देखने* का सवाल ही नहीं उठता। पर सपना तो हम *देखते* ही हैं। सवाल *बाहर* का है, *देखने* का नहीं। पर इसके लिये युक्ति क्या कि देखना बाहर ही होता है? यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो हम मान कर चलते हैं, युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते। मैं यहां यह नहीं कहना चाहता कि *बाहर* जैसा कुछ होता ही नहीं है। पर हमारा बाह्य-बोध इन्द्रिय के सहारे ही खड़ा रहता है, इस बात पर उँगली उठाना चाहता हूं। हमारा बाह्य-बोध सीधी सी इन्द्रिय-निर्भरता की बात नहीं है। उसका आधार बहु-सूत्री ही उभरता है। स्वप्न से उसे हम अलग करते हैं तो जाग्रत से जोड़ते हैं। पर जाग्रत में क्या है जो स्वप्न से अलग है? जाग्रत में हमें एक नैरन्तर्य का - 'वही जगत्', 'वही मैं' का बोध होता है। पर बोध इन्द्रियों पर कितना टिका हुआ है? इसकी जड़ें और गहरी जान पड़ती हैं। चेतना की बोध-दृष्टि या बोध-प्रकारता में ही समाविष्ट जान पड़ती हैं। इन्द्रिय तो संकेत का ही काम करती है (जो कि स्वप्न में भी करती हो तो अचंभा क्या?)। संकेत-ग्राहिणी इन्द्रिय नहीं, व्यापकतर चेतना होती है जो संकेत के आधार पर बोध की बुनावट करती है। बाह्य और अंतर का भेद हमारी चेतना में पैठा एक महत् भेद है। प्रश्न हो सकता है, इस भेद का आधार इन्द्रिय नहीं तो फिर क्या? प्रश्न विचार को ललचा भी सकता है, पर ऐसे प्रश्न का यहां प्रसंग नहीं - यों भी किसी उत्तर की अपेक्षा यहां एक समूची तत्त्व-मीमांसा का अलग विमर्श चाहता है, जिसका कोई सूत्र मेरे आगे नहीं। पर यहां हम तात्त्विक दृष्टि जो भी रखें इतना तो कह ही सकते हैं कि स्वप्न से भिन्न जाग्रत अवस्था में ही हम कोई तात्त्विक-दृष्टि विमर्श के साथ पाल सकते हैं। स्वप्न में भी कुछ आत्मचेतना रहती है - नहीं तो स्वप्न याद ही कैसे रहेगा? स्वप्न देखा, यह बोध ही कैसे जागेगा? - पर आत्मचेतना पूरी तरह से आधार जाग्रत को ही बनाती है। स्वप्न, सुषुप्ति, या कोई और अवस्था, इन का बोध की किसी व्यापकता में प्रकाश, यह जाग्रत की आत्मचेतना में ही होता है - वहीं इन के भेद-अभेद का *प्रश्न* उठता है। और तभी यह भी प्रश्न उठता है कि क्या हम जिसे बाह्य-जगत्-निष्ठ वस्तु-तंत्र ज्ञान कहते हैं उसका इन्द्रिय से संबंध कैसा और कितना है? सच तो यह है कि *वस्तु* की बात इन्द्रिय-सापेक्ष है ही नहीं। कह चुका हूं कि जिसे हम भौतिक वस्तु कहते हैं - ठोस, हमसे बाहर अपनी जगह घेरे खड़ी *चीज़*- वह भी इन्द्रिय के लिये तो संकेत की ही चीज़ होती है। फिर *वस्तु* का दायरा तो और भी बड़ा है। क्या 'वस्तु' के साथ यह शर्त भी लगा सकते हैं कि वस्तु के लिये इन्द्रिय-व्यापार का होना भी ज़रूरी है? सपने को ही नहीं, कलाकृति को भी अलग रख दें तो भी क्या विचार-विमर्श को, ज्ञान को भी अलग रख सकते हैं? क्या ये अ-वस्तु हैं? अगर हम ऐसा कहना भी चाहें तो भी विमर्श का ही आसरा लेना पड़ेगा। विमर्श का भी साक्षात् बोध होता है, जहां इन्द्रिय-व्यापार का साक्षात् नहीं होता; विमर्श को इन्द्रिय के साथ जोड़ें भी तो जोड़ने के लिये विमर्श का ही द्रविड़-व्यायाम करना पड़ेगा।

निष्कर्ष यही निकलता है कि जिसे हम सब्जेक्टिव या चेतना-मात्र-निष्ठ कहते हैं वह हेय या अप्रमाण इसलिये नहीं हो सकता कि वह ऑब्जेक्ट को सब्जेक्ट या ज्ञातृ-चेतना के परदे से ढँक देता है, या विकृत कर देता है। ज्ञातृ-चेतना के बिना तो ऑब्जेक्ट या वस्तु की बात ही नहीं उठती, चाहे हम यह मान भी लें कि ऑब्जेक्ट या वस्तु की अपने आप में स्वप्रतिष्ठ सत्ता है। इन्द्रिय भी हमें बिना ज्ञातृ-चेतना के वस्तु तक कैसे ले जा सकती है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुतंत्रता या ऑब्जेक्टिविटी की बात ज्ञातृचेतना की ही अपनी ग्राह्यता की - ग्रहण के खरेपन के साथ वस्तु-उन्मुख होने की ही बात हो सकती है - चाहे वस्तु बाह्य हो या अबाह्य। चेतना का निरहं होना इस उन्मुखता का पहला लक्षण कहा जा सकता है। राग, द्वेष, स्वार्थ, आग्रह, मोह, आत्म-छलना (सत्य-बोध का मिथ्याभिमान)... इन्हें ज्ञातृ-चेतना के 'सब्जेक्टिव' होने के लक्षणों में गिना जा सकता है, जिनके रहते चेतना का ज्ञातृत्व स्व-तन्त्र नहीं होता।

हमारा ज्ञातृत्व अपने ज्ञेय को ज्ञेय की वास्तवता में जानना चाहता है - यही वस्तुतंत्रता का अर्थ है। पर ज्ञेय *वस्तु* को बाहर-दिखती भौतिक वस्तु में परिमित कर देना वस्तु-तंत्रता का लक्षण नहीं हो सकता। अभी ऊपर मैं बाहर और भीतर के भेद को इन्द्रिय से कहीं गहरी पैठ देने की बात कर आया हूं। कह आया हूं कि बाहर भी इन्द्रिय वस्तु के लिये इंगित भर ही हो सकती है। यहां 'भौतिक' की संकीर्णता से हट कर यह सोचिये कि बाहर हम क्या पाते हैं? हमारे लिये बाहर का अर्थ क्या? क्या दूसरे व्यक्तियों के साक्ष्य के बिना हमारे बाहर की प्रामाणिकता अधूरी नहीं रहती? कहा जा सकता है कि 'अर्थ देना' और 'वस्तु होना' एक बात नहीं है। पर हमारे अनुभव का, हमारी समूची जिजीविषा का सच यह है कि अन्य व्यक्ति ही हमारे लिये अर्थ (या अनर्थ) नहीं रखता, वस्तु की वास्तवता के साक्ष्य में भी हमारा सहभागी होता है और वह स्वयं भी हमारे लिए बाह्य वास्तवता होता है। हां, उसकी वास्तवता का भौतिक से भिन्न लक्षण होता है - और भौतिक से कहीं व्यापक लक्षण होता है। 'व्यापक' यहाँ इस तात्पर्य से कह रहा हूं कि जिसे हम भौतिक वस्तु के रूप में पहचानते हैं वह *अन्य की अपेक्षा* रखती है। मैं देखूं (और कहूं) कि 'पत्थर है', 'पहाड़ है', 'कुर्सी है', 'टेबल है', 'राम है', 'सुशीला है', तो इस देखने (और कहने को) अगर वस्तु-तंत्र मानता हूं तो यह भी अपेक्षा रखता हूं कि अन्य भी यही देखेगा (और कहेगा)। ऐसा नहीं होने पर मुझे अपने देखने की वस्तुतंत्रता पर संदेह होगा। मैं बाहर कुछ वस्तु-रूप में देखता हूं तो उस देखने में ही अन्य की सम्मति ऊह्य होती है - अन्य का *होना* ऊह्य होता है। यह भी ऊह्य होता है कि अन्य मेरी ही तरह *देखनेवाला* है, उसका देखना मेरी ही देखने की तरह *प्रमाण* है। या यों कहिये कि अन्य को मैं मुझ-स्थानीय *देखता* हूं। पत्थर, पहाड़, या कुर्सी, टेबल की तरह केवल विषय के रूप में नहीं *विषयी* के रूप में देखता हूं - अपना समान-धर्मा। इस देखने-जानने में इन्द्रिय भी व्यापृत होती है - पर उसका व्यापार वैसा नहीं होता जैसा पत्थर-पहाड़ देखने-जानने में। जाग्रत को (स्वप्न से अलग करने के लिये)अन्य-साधारण कहा गया है - जो ठीक भी है। पर अन्य-साधारण अनुभव का लोक ही (इन्द्रिय-निर्भर कहलाने वाला) वस्तु-लोक भी है। पर इस कथन में यह निहित है कि अन्य *है,* नहीं तो *अन्य*-साधारण को *वास्तव* कहने का कोई अर्थ नहीं होगा।

अन्य की सिद्धि का यह एक साफ इंगित है। पर और भी हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारी आत्मचेतना में एक सहज निरहं-भाव होता है। तभी हम अपने अहं को *जान* सकते हैं। तभी आत्मचेतना *आत्म*-चेतना होती है। हमारे नैसर्गिक आत्म में - अहं में - एक ग्राह्य-ग्राहक भाव होता है, आत्मचेतना उससे हट कर उसके प्रति चेतन होती है। वह अपनी चेतनता के प्रति भी चेतन होती है। आत्मचेतना का यह चेतना-सोपान अपने भीतर उतरता चला जा सकता है - या यों कहिये कि अपने ऊपर उठता चला जा सकता है। आत्मचेतना की यह सहज स्थिति है - या गति कहिये। इस बात की हम किसी न किसी रूप में चर्चा कर भी आये हैं। यह भी कह आये हैं कि यह अपने-प्रति-चेतन चेतना निश्चल नहीं, प्रवृत्तिमयी होती है। औचित्य-बोध में बसी होती है। और तभी हमारी चेतना अपनी हर प्रवृत्ति में प्रमाण ढूँढती है। पर आत्मचेतना का निरहं व्यापार संभव इसलिये हो पाता है कि वह सामान्य में अधिष्ठित होता है - नहीं तो हम अपने व्यष्टि-निष्ठ विशेष अहं से उबर नहीं सकते : आत्मचेतन ही नहीं हो सकते। हम आत्मचेतन होने के साथ अपने को भाषा-चेतन पाते हैं। सामान्य के बिना भाषा अकल्पनीय है। शब्द बिना अर्थ के शब्द नहीं होता और अर्थ सामान्य होता है - हम जिसे 'विशेष' कहते हैं, *भाषा-व्यवहार* में वह सामान्य-बाहर स्वलक्षण नहीं होता, होता तो *कहा* नहीं जा सकता था। वह सामान्य का ही एक संकोच होता है, या 'निदर्शन' कहिये।

हमारा सामान्य बोध हमें *अन्य*-सामान्य भी कर देता है। 'मैं' का प्रयोग मैं अपने लिये ही नहीं, अन्य के लिये भी कर सकता हूं - करता ही हूं। यों ही प्रथम पुरुष का ही नहीं, 'आप-तुम-तू' का प्रयोग भी मैं अपने और दूसरों के लिये कर सकता हूं - जैसे दूसरे मेरे लिये कर सकते हैं। यही बात तृतीय पुरुष पर भी पूरी उतरती है - मैं अन्य को ही नहीं अपने आप को भी 'वह' कह सकता हूं (17वीं सदी के विख्यात हिन्दी कवि बनारसी दास ने अपनी आत्मकथा लिखते हुए अपने आप को 'बनारसी' ही कहा है, 'मैं' का प्रयोग नहीं किया है)। शल्य जी ने कई जगह सर्वनाम की इस सामान्यता की बात की है। यह सामान्यता अन्य को ऊह्य ही नहीं रखती, अन्य को मुझ-स्थानीय भी बना देती है। और मुझे अन्यों में एक अन्य।

सच तो यह है कि अन्य के बिना हम अपनी ही कल्पना नहीं कर सकते। हम *आत्म*-स्थ ही अन्यों के बीच - अन्यों के साथ - होते हैं। हम एक भाषा-परंपरा, एक आचरण-परंपरा में आदमी बनते हैं। इन परंपराओं के बिना हमारा *आपा* ही क्या? भाषा को ऊह्य रखती हुई *आत्मचेतना* अन्यों में ही नहीं, एक व्यवस्थित अन्य-परंपरा में रूप लेती है, जिस परंपरा में एक आचरण-व्यवस्था भी सन्निविष्ट होती है जो मर्यादा-बोध के साथ एक आदर्श-बोध में प्रतिष्ठित होती है।

अन्य को हम अपने से अनन्य पाते हैं - तभी आचरण में लज्जा-बोध (लोग क्या कहेंगे!) हमारी घुट्टी में पड़ा होता है। और तभी हम सत्य-काम उतने नहीं जितने यशः-काम होते हैं, प्रभुत्व-काम होते हैं। हम अपने-आप से भी बात करते हैं तो सामने (या आड़ में) दूसरा होता है - अकसर कोई खास दूसरा। ज़रा सोच कर देखिये : 'मैं कौन हूं?' का उत्तर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'अन्यों के बीच मैं कौन हूं, क्या हूं' यही रूप लेता है; दूसरों के लिये ही नहीं मेरे अपने लिये भी। अन्यों को मुझ *में* से, मेरी पहचान से हटाने का प्रयास निर्विकल्प समाधि की विकट-साधना-साध्य होता है - या विचार के विशुद्ध विकल्प में स्थित होता है (पर यहां भी विप्रतिपत्ति या विपक्ष के रूप में अन्य बहुत दूर नहीं होता)।

विशुद्ध विचार के निरिन्द्रिय-लोक में *विचारक* के रूप में अन्य की उपस्थिति एक विचित्र सा प्रश्न व्यंजित करती है। अन्य के ज्ञान में इन्द्रिय की भूमिका क्या? आपात-भाव से हमें लगता है कि हम इन्द्रिय से जैसे बाह्य जगत् की और चीज़ों को जानते हैं वैसे ही अन्य को भी जानते हैं - उसकी देह को देख कर देही का अनुमान करते हैं। पर विचार में हम जिस अन्य के सन्मुख होते हैं वह अगर जीवित हो, परिचित हो, तो भी बोध में उसकी *देह* का स्थान अकिंचन होता है। एक अन्यत्व का बोध होता है जिसमें देह ही नहीं, हम जिसे साधारण तौर पर *देही* कहते हैं - चित्त-विशेषित देह - उसका भी होना न-होने सा ही होता है। पर अन्यत्व का बोध होता है - बहुत गहरा भी हो सकता है, अगर विचार की टकराहट तीखी हो। या वह हमारे अपने चिंतन को भीतर से प्रेरित करे। अन्यत्व का यहां रूप क्या होता है? इस सवाल में यहां नहीं जाऊंगा।

पर बात को इस सूक्ष्म - *वि-देह* - स्तर पर इसलिये उठाया कि मैं समझता हूं कि अन्य-बोध की बात में इन्द्रिय को ही वह स्थान देना संशय जगाता है जो स्थान कि हम बाह्य-जगत् के भौतिक-कहलाती वस्तुओं के बोध में इन्द्रिय को सहज, अनायास ही दे देते हैं।

यह ठीक है कि हम साधारण व्यवहार में अन्य को देही के रूप में ही जानते हैं, पर यहां भी मेरे मन को प्रश्न कचोटता है : क्या हम देही को इन्द्रिय-लब्ध देह के माध्यम से *अनुमित* करते हैं? वैसे ही जैसे कि हम इन्द्रिय-गम्य गुणों के माध्यम से किसी (भौतिक) वस्तु के होने का अनुमान करते हैं? या यों कहिये कि इन्द्रय-प्राप्त धर्मों के आधार पर धर्मों के अधिष्ठाता *धर्मी* का अनुमान करते हैं।

कहना न होगा कि यहां *धर्मी* के *अनुमान* की बात में भी समस्या गहरी है। अनुमान अगर किसी अर्थ में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से परिभाषित हो - अनुमेय में इन्द्रिय-गम्य हो पाने का लक्षण अपेक्षित हो - तो भौतिक धर्मी के भी *अनुमान* की बात नहीं की जा सकती। अगर हम वस्तु का कोई भी तत्-स्वरूप मानते हैं तो वह प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप में इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता। बात कोई नई नहीं, विचार में बड़ी जानी-पहचानी हुई सी है। इसीलिये ज्ञान में इन्द्रिय-वादी - या इन्द्रिय-*प्रत्यक्ष* -वादी कहिये - वस्तु के किसी तत् से ही इन्कार करने की ओर ही झुकते हैं।

पुरानी बहस है, पर यहां मैं इस बहस में नहीं जाना चाहता। भौतिक कहलाती बाह्य वस्तु का कोई तत् या धर्मी-स्वरूप होता हो या नहीं होता हो, *अन्य* का एक मार्मिक अर्थ में होता है - जिसके बिना 'अन्य' शब्द का ही अर्थ नहीं बनता। वस्तु के धर्मी होने का अर्थ है उसका कोई अपना स्व-भाव होना, जो धर्म-संघात मात्र न हो - जो इन्द्रिय-बोध-सीमित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्मों में ही निःशेष, अपचित न हो जाता हो। और न विकल्प-मात्र - कल्पना-मात्र - होता हो। इस बात को यों भी रख सकते हैं कि वस्तु केवल देखने, सूँघने, छूने... की बहिरंग चीज़ ही नहीं होती, उसका अपना अंतरंग भी होता है। 'बहिरंग' शब्द का प्रयोग यहां इस आशय से भी कर रहा हूं कि वस्तु का केवल गणित-गम्य मात्रा या परिमाण-सर्वस्व होना भी उसका बहिरंग-मात्र होना ही होता है। मिट्टी, धातु या पत्थर... की बनी कलाकृति परिमाण की दृष्टि से वैसी ही होती है जैसा कि मिट्टी, धातु या पत्थर का ढेला। कलाकृति का वस्तुत्व उसका अंतरंग होता है - जो इन्द्रिय द्वारा संकेतित होता है, पर इन्द्रिय के लिये परोक्ष होता है। यहां कहा जा सकता है - कहने का चलन ही है - कि इसी बात से तो यह सिद्ध होता है कि कलाकृति का कलाकृति के रूप में बोध वस्तु-तंत्र नहीं चेतना-तंत्र (सब्जेक्टिव) होता है। सबको यह बोध होता ही नहीं - संवेदना की मांग करता है, और संवेदना-भेद से भी कलाकृति का 'वस्तुत्व' भिन्न भासित होता है। पर इन्द्रिय के साथ चेतना की मांग तो भौतिक 'होने' के साथ भी अनिवार्य है - जैसा कि हम देख आये हैं। अंतर यह है कि मांग एक सी नहीं है। परिमाण-वादी जिस गणित की मांग करता है वह गणित भी चेतना के बिना अकल्पनीय है। बात सर्वसम्मति पर आ जाती है। गणितगम्य परिमाण का *वही* होना सब के लिये समान होता है – ऐसा प्रतिपादित किया जाता है, माना भी जाता है। पर यह बहुत कुछ संस्कार की बात है (जो कि चेतना-निष्ठ ही होता है)। क्योंकि 'सब' इस संदर्भ में हम किसे कहते हैं? विज्ञान की परंपरा में शिक्षित-दीक्षित *परीक्षक* - या निष्णात प्राश्निक कहिये - उसे ही कहते हैं, मनुष्य-मात्र को नहीं। और प्राश्निकों की अपनी विप्रतिपत्तियां, मतभेद यहां भी होते ही हैं - काफी परिमाण में होते हैं। अगर कलाकृति की संवेदना के मतभेद अधिक सामने आते हैं तो उसका एक कारण यह भी है कि कलाकृति सचमुच सब की ओर उन्मुख होती है - हां, उसका ग्रहण न परिमाण के रूप में होता है, न गणित के माध्यम से किया जाता है। उसमें *ग्रहण* का अपना स्वतन्त्र, महिम स्थान होता है, जो कि साधारण भौतिक वस्तु-ग्रहण में नहीं होता - क्योंकि जिसे हम साधारण भौतिक वस्तु कहते हैं वह मानो हमारी जागृत-अवस्था की इन्द्रिय-चेतना पर स्वतः आक्षिप्त सी होती है। सबके लिये एक सामान्य बाह्य-जगत् में प्रस्तुत होती है - उस साधारण जगत् को प्रस्तुत भी करती है: एक ऐसा जगत् जो जीव-मात्र के लिये 'वही' जान पड़ता है।

पर मनुष्य के लिये भाषा का विषय भी बनता है और प्राश्निक ग्रहण का विषय भी। हम पूछते हैं कि यह 'सब के लिये वही जान पड़ता' जगत् क्या है? कैसा है? तो फिर बात सबके लिये *वही* नहीं रह जाती। बात *ग्रहण* की हो जाती है, आत्मचेतन विमर्श के ग्रहण की, और यों ग्रहण-*भेद* की। पर ग्रहण में भेद होने का यह स्वतः-सिद्ध - स्वयंभू - तात्पर्य नहीं बनता कि ग्रहण *वस्तु* का ग्रहण नहीं होता। जगत् क्या है? इस विमर्श में भेदों का महा विस्तार है - पर क्या इस बात को *युक्ति* बनाते हुए हम दावा कर सकते हैं कि सब ग्रहण ही भ्रांत हैं? ऐसा कहना भी जगत् के स्वरूप पर विमर्श की ही एक टिप्पणी होगी - दूसरे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विमर्शों में एक विमर्श। आशय यह नहीं कि सब विमर्श सत्य होते हैं - पर सोचने की बात यह है कि भ्रांति की संभावना सत्य को ऊह्य रख कर ही खड़ी की जा सकती है। और फिर यह भी सोचिये कि वस्तु का सत्य अगर वास्तविक सत्य-संधान के लिये एक नहीं ठहरता तो जिसे हम वस्तु का *एक* होना कह रहे हैं उसी पर कुछ गहराई से परीक्षा का प्रश्न उजागर हो जाता है। संधान का अभिनिवेश, उसका *सत्*-भाव, वस्तु के सत् (उसके 'उसी' स्वरूप) जितना ही मननीय हो जाता है। कलाकृति के ग्रहण में तो यह बात प्रकट ही होती है। संवेदना के ग्रहण का सद्-भाव वस्तु के स्वरूप-ग्रहण का एक बड़ा निकष होता है। ग्रहण-भेद यहां ग्रहण की वस्तु-तंत्रता को नकारता नहीं है। 'वही' के सीधे-सपाट से 'एकत्व' पर ज़रूर गहरा सवाल उठाता है। इन्द्रिय-ग्रहण की अकाट्य-सी-मान-ली-जाती *भौतिकता* पर तो प्रश्न उठाता ही है।

पर बात मैं 'अन्य' के प्रसंग में देह और देही की कर रहा था। प्रश्न था अन्य के - जिसे देहधारी देही भी कह सकते हैं - ऐसे अन्य के ग्रहण में इन्द्रिय की क्या भूमिका होती है?

मुझे लगता है कि बात जटिल है। कलाकृति के लिये हम कह सकते हैं कि इन्द्रिय-संकेत के बिना कलाकृति बोध में जाग ही नहीं सकती। पर अन्य के लिये ऐसा कहना ठीक नहीं : हम ऊपर देख आये हैं कि विचार करते हुए ऐसे अन्य का भी तीव्रतर बोध हो सकता है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष संभव ही नहीं।

फिर अभिनय की बात भी सोचिये। नाटक में यह स्पष्ट रहता है : जिस देह को मैं देखता हूं *उसके* देही को नहीं देखता : देही कोई और होता है - और मैं इस बात को जानता-बूझता हुआ, एक देह में अन्य का *अनुभव* करता हूं। यहां इन्द्रिय-संबंध जोड़ना चाहें तो कैसे जोड़ेंगे? इन्द्रिय जिस देह के सन्निकर्ष में होती है अनुभव उस देह के देही से नहीं, अन्य देही से होता है, जिसकी इन्द्रिय से कोई डोर नहीं, और अकसर हो भी नहीं सकती है - जैसे राम या रावण के चरित्र से। हम कह सकते हैं कि बात उत्प्रेक्षा की है, सचमुच एक देह में अन्य देही के अनुभव की नहीं - नाटक के अंत होते ही अन्य बोध का भी अंत हो जाता है। पर इसे उत्प्रेक्षा भी कहें (या नैयायिकों की तरह 'आहार्य-ज्ञान' कहें) तो भी बात खोखली नहीं हो जाती। (आहार्य में हम स्वेच्छा से एक वस्तु को अन्य वस्तु के रूप में देखते हैं, जैसे रूपक में मुख को चन्द्र के रूप में, जब कि उत्प्रेक्षा में अन्यत्व का अध्यवसाय अपेक्षया शिथिल होता है - मुख *मानो* चन्द्र है - निश्चय जहां निलंबित या स्थगित सा होता है)। पर हम मान भी लें कि बात आहार्य की या उत्प्रेक्षा की है तो भी अपने आप से यह पूछिये कि बात *बन* कैसे जाती है? इन्द्रिय किसी देह के संपर्क में आती है। देही के संपर्क में नहीं आती। देही को इन्द्रिय से जोड़ना हो तो देही का परोक्ष-बोध देह के बोध से ही जोड़ा जा सकता है - यों कि तत्-देह का बोध किसी प्रकार के अनुमान से तत्-देह-निष्ठ देही का ज्ञान देता है। यह 'अनुमान' कैसा है? इस प्रश्न को हम यहां न भी उठायें (ऊपर हम प्रश्न छेड़ आये हैं) तो भी इन्द्रिय-बोध को वस्तु-बोध का आधार मानने में गुत्थी रह ही जायेगी कि जिस देह को मैं देख रहा हूं उस में अन्य देही का बोध कर ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कैसे सकता हूं? आहार्य या उत्प्रेक्षा संभव कैसे होती है? सच यह है कि जितना अच्छा अभिनय होता है अभिनेता की देह में अन्य देही का बोध हम उतनी ही गहराई और तन्मयता से करते हैं। हम जानते हैं कि यह देह अमुक चरित्र की नहीं है, फिर भी उस अन्य को ही सन्मुख पाते हैं। अगर देही देह से किसी सार्थक अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हो तो यह बात कल्पना में भी संभव नहीं है। आहार्य या उत्प्रेक्षा का इससे क्षीणतर रूप भी हो सकता है - हम कुछ समझने-समझाने के लिये या खेल ही के लिये सामने पड़ी गेंद में ब्रह्माण्ड-गोलक की उत्प्रेक्षा कर सकते हैं। बात एक देही में अन्य देही को देखने के सदृश है। पर उतनी सजीव, साक्षात्-अनुभव-समर्थ नहीं।

अन्य के ऐसे बोध में प्रश्न जागता है कि बोध क्या हमें सचमुच देह-से-देही का होता है, या उल्टा होता है? देही से देह का? अपने मित्र को, अपने प्रिय को या पूज्य को मैं देही के रूप में ही देखता हूं, देही उस देह की ओर उन्मुख करता है, न कि देह देही की ओर। जिसे हम भौतिक वस्तु कहते हैं उसके बोध में ऐसा नहीं होता, अगर ऐसा हो तो भौतिकता पर संदेह होगा। हम यहां बोध में सामान्य के आधार-भूत स्थान की बात को इन्द्रियों के आड़े ला सकते हैं। कह सकते हैं कि किसी विशेष भौतिक वस्तु को हम तत्-जातीय सामान्य के निदर्शन के रूप में देखते हैं। बोध में सामान्य की यह भूमिका बोध को इन्द्रिय से परे ले जाती है। पर इतना तो फिर भी प्रकट है कि भौतिक के साक्षात् में सामान्य संवेद के विशेष पर जिस तरह निर्भर करता है देही के बोध में वैसा नहीं होता, जैसा ऊपर की चर्चा में उभर ही आता है। भौतिक के बोध की नींव ही इन्द्रिय है, उस नींव पर सामान्य खड़ा होता है। यहां सामान्य अगर इन्द्रिय से स्वतन्त्र भी है तो भी इन्द्रिय के बिना उसका स्वायत्त बोध अकल्पनीय है - नदी-सामान्य, नाला-सामान्य, पहाड़-सामान्य... ये इन्द्रिय-बोध को ऊह्य रखते हैं। पर अन्य का बोध ऐसा नहीं होता। हम देखते हैं कि नाटक में एक की देह किसी और देही को प्रस्तुत कर सकती है।

उपन्यास को लीजिये। उपन्यास में किसी देह के बिना ही देही प्रस्तुत हो जाता है। कथा, उपन्यास, रामायण, महाभारत जैसे महत् कथा-काव्य यह दिखाते हैं कि देही के साक्षात्कार में देह कितनी गौण हो जा सकती है। अभी कह आया हूं कि विचार करते हुए भी अन्य सन्मुख होता है। पर यह सामना किसी *चित्त-गर्भ* देही को बोध में नहीं जगाता - ऐसे *सजीव* देही का एक परोक्ष सा - या यों कहिये कि बड़ा झीना-सूक्ष्म सा, निष्प्राण सा - ही अनुभव होता है वहां देही का। पर उपन्यास की बात और है - देही का चरित-चरित्र वहां जाग उठता है। देही का चित्त-मय तत्-व्यक्तित्व वहां स्फूर्त-स्पंदित हो 'मूर्त' हो उठता है। कथा, उपन्यास ये अन्य को *कहानी* के रूप में कहने की विशेष विधायें हैं - इन्हें शिल्प-साध्य, किसी रूप में 'असामान्य', अ-सर्वसाधारण कहा जा सकता है। पर कहानी कहना तो मानव होने का ही लक्षण है। जहां कथा, उपन्यास... किसी विदग्ध *कला* के रूप में नहीं होते वहां भी कहानी कही जाती है - और उसके कहने में भिन्न कथकों में - या कहनेवालों में - वैदग्ध्य-भेद भी होता है, चरित-चरित्र में पैठ का भेद भी होता ही है। कथा अन्य की ही होती है - हम-जैसे अन्य की, चाहे चरित देवता का ही क्यों न हो। अपनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहानी भी अपने को एक चरित के रूप में ही आँकती है - यह दिखाती है कि मैं अन्यों में एक अन्य हूं।

मैं समझता हूं कि कहानी को अन्य की सिद्धि के एक मार्मिक प्रमाणों में गिना जा सकता है। यहां इन्द्रिय-प्रमाण के बिना भी अन्य ऐसे अन्य के रूप में उभरता है जैसे अन्य के साथ हम रहते हैं, आचरण करते हैं। मनुष्य में नैसर्गिक भाव से जागता *कथक* पर-चित्त-प्रवेश की शक्ति रखता है। और यह बात एक और गहरे सत्य की ओर भी इंगित करती है - और उसका प्रमाण भी होती है : बात यह है कि अन्य को हम विषय के रूप में नहीं, विषयी के रूप में जानते हैं। तभी अन्य के प्रति हमारे व्यवहार का आयाम ही और होता है - धरती ही अलग होती है। 'व्यवहार' को व्यापक अर्थ में लें तो व्यवहार हमारा जड़ के साथ भी होता है - भौतिक वस्तुओं के साथ। पर वहां *आचरण* की बात नहीं उठती। आचरण हम अन्यों के साथ ही करते हैं - जिनकी कहानी भी कह सकते हैं।

'आचरण' की धारणा में एक और बात भी आगे आ जाती है - यह कि *आचरण* का अन्य देह-निष्ठ देही होता है, जैसा कि आचरण-कर्त्ता के रूप में मैं होता हूं। यहां इन्द्रियों की भूमिका - ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय दोनों की भूमिका - स्फुट होती है। लेखमाला के आरंभ में मैंने *भोगेन्द्रिय* की भी बात की थी; इन्हें इन्द्रियों की एक अलग कोटि के रूप में उभारने की चेष्टा की शी। भारत की विचार-परंपरा में भोगेन्द्रियों की धारणा आम है - हालांकि आज के चिंतन में इन की बात करने का चलन नहीं है। पर हममें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व ही नहीं, भोक्तृत्व भी है - तो भोगेन्द्रियां भी हैं ही। जगत् में हम ज्ञाता और कर्त्ता ही नहीं होते भोक्ता भी होते हैं। अन्यों का भोग हमारे भोग का एक बड़ा भाग होता है - और हमारे लिये औचित्य का यह प्रश्न चिरन्तन है कि अन्य को 'भोग का विषय' बना देना क्या युक्त है?

एक बात जो ऊपर की चर्चा में *ध्वनित* हो गई है उसको स्पष्ट करता हुआ आगे बढ़ूंगा। हम 'कर्म' को चेतना की प्रवृत्ति मात्र से व्यावृत्त करते हुए कर्म के जिस (साधारण, प्रचलित) अर्थ की बात कर रहे थे 'अन्यों' के साथ उसका क्षेत्र भी अब उभर आया है। हम कह सकते हैं कि अन्यों के बीच और अन्यों के साथ, अन्यों के *प्रति* आचरण कर्म है - 'बीच' और 'साथ' इन दोनों शब्दों का प्रयोग इसलिये कर रहा हूं क्योंकि कर्म व्यष्टि का भी होता है, समष्टि का भी। या यों कहिये कि परस्पर-अन्य देहवान् देहियों का परस्पर-व्यवहार कर्म है।

हमने देखा कि देही को देह से अलग देखा जा सकता है। पर *कर्म* में ऐसा होता नहीं दिखता। कर्म के जिन दूसरे आयामों की मैं चर्चा करता रहा हूं - जैसे कवि-कर्म, विचार-कर्म, भक्ति-कर्म...की, इनमें देह का होना कर्म के केन्द्र में नहीं होता, पर व्यवहार-कर्म देह की अपेक्षा रखता है। वैसे ही जैसे नृत्त। पर नृत्त-कर्म देह-स्थित होता हुआ भी अन्य देहियों की वैसी अपेक्षा नहीं रखता जैसा व्यवहार रखता है - नृत्त में अन्य हो भी तो *प्रेक्षक* होता है - प्राश्निक भी हो सकता है, सह-नर्त्तक भी; पर नृत्त अन्यों के *प्रति* नहीं होता। या चाहें तो यों कहें कि नृत्त अन्य के देह-धारी होने की अपेक्षा नहीं करता। सह-नर्त्तन में अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देहधारी की अपेक्षा होती है, पर कहना अटपटा ही होगा कि नृत्त उसके *प्रति* होता है। प्र, हां, हम कह सकते हैं कि नृत्त की होड़ हो रही हो तो कहा जा सकता है कि नृत्त अन्य के प्रति है। पर यहां 'अन्य के प्रति' होने की बात नृत्त में नहीं *होड़* में आती है।

इस से 'प्रति' के तात्पर्य का एक संकेत मिलता है। बात *आचरण* की हो जाती है। आप पूछ सकते हैं कि इसका क्या तात्पर्य? यों तो कहा जा सकता है कि नृत्त और आचरण का भेद हमारे बोध में सहज ही उभरता है - ये ऐसी भिन्न कोटियां हैं जो बिना विमर्श-विवेचना के भी उजागर रहती हैं। पर विमर्श करें तो भेद करने का क्या रास्ता लेंगे? एक बात मैं समझता हूं, यों उभारी जा सकती है : बात केवल अन्य की नहीं रहती, *स्व* और *पर* की हो जाती है। होड़ जैसी प्रवृत्तियों में यही होता ही है। मेरा स्व मुझे पर से विच्छिन्न करता है - उसका अन्य होना मात्र ऐसा नहीं करता। बात अहं की - मेरी अपनी व्यावृत्त अस्मिता की - हो जाती है जो अन्य को अपनी परिधि से बाहर रखते हुए उसे पराया कर देने की वृत्ति पालती है। अन्य अब भी होता तो विषयी ही है (नहीं तो *पर* ही कैसा हुआ!, जड़ भी हो सकता था), पर उसका विषयित्व उसके देहमय देही होने से विशेषित होता है - या यों कहें कि ऐसे होने में सिमट रहता है।

साफ ही बात कुछ खुलासा चाहती है। मेरा आशय यह है कि व्यवहार-कर्म का विषयी प्राण, तन, चित्त, इनमें बसता विषयी होता है। उसे *देही* कहना इसीलिये सार्थक है। विषयित्व के - या आत्म के - और भी आयाम हैं (जिनकी ओर हमारी चर्चाओं में संकेत होता ही रहा है), पर ये यहां संकुचित रहते हैं - सिमट रहते हैं। अपना स्व - अपने सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा-कामना-अभीप्सा- दूसरे शब्दों में अपना *स्वार्थ*, मुझे अन्य से अलग करता हुआ उसे पर बना देता है - जिससे मैं स्पर्धा करता हूं।

मैंने सिमटने की बात कही। सिमटने की बात को यहां यों भी देख सकते हैं कि देह-बद्ध देही की विषयी-चेतना देश-काल में सिमट आती है। उसके अन्य आयाम गौण हो जाते हैं।

पर गौण ही होते हैं, मिट नहीं जाते। आत्मचेतना का सामान्य-बोध, औचित्य-बोध जागता रहता है। वह अन्य को सर्वथा पर के दर्जे पर नहीं उतरने देता। एक गहरा अभेद-भाव जगाये रखता है।

सामान्य-बोध की अभी बात कर आया हूं। पर इस प्रसंग में बात को एक विशेष दिशा में बढ़ाना चाहता हूं। कह आया हूं कि अन्यों के प्रति हमारा सामान्य-बोध सादृश्य की धरती पर नहीं रखा जा सकता। हालांकि ऐसा आम तौर पर किया जाता है। पर *सादृश्य* की धारणा है क्या? उसे कैसे आँका-समझा जाये? 'सदृश' शब्द का तो यही इशारा है कि बात इन्द्रिय-बोध की है (दृश' से यही बात प्रकट है) - और इसी अर्थ में अकसर ली जाती है। पर सदृश-बोध में एक अपेक्षा-बुद्धि होती है, तुलना का भाव होता है - एक को दूसरे-तीसरे-चौथे... से मिला कर देखने की वृत्ति, जिसे इन्द्रिय की वृत्ति कहना असमंजस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बात होगी। फिर यह सोचिये कि एक-से-पन के बोध का क्षेत्र साफ ही इन्द्रिय तक परिमित नहीं है - हम सिद्धान्तों में, भावों में, गणित की विधियों में एक-सा-पन पाते हैं, और उसका रूप भी विमर्श में उभारते हैं। शायद यहां बात *सारूप्य* की की जा सकती है—अगर 'रूप' को 'संरचना' के व्यापक अर्थ में लिया जाये। फिर, सोचिये, कि साम्य तो व्यापार में भी होता है, चाहे व्यापार इन्द्रिय-गम्य हो या नहीं - और व्यापार को तो यों भी इन्द्रिय के क्षेत्र में लाने में वस्तु से भी अधिक दुविधा हो सकती है। शायद 'सादृश्य' और 'सारूप्य' के स्थान पर बात 'साधर्म्य' की ज़्यादा जँच सकती है - पर साधर्म्य में आकृति-साम्य की बात लायें भी तो गौण ही लगती है।

पर साधर्म्य की धारणा से सुराग लेते हुए मैं यहां एक खास - या सच पूछिये तो बड़ी आम सी - बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूं जो दार्शनिकों की सादृश्य-चर्चा में उपेक्षित ही रह जाती है। हम सादृश्य शब्द को ही रखें और उसे ही व्यापक अर्थ में लें, तो भी सादृश्य की बात हम एक परिधि को ऊह्य रख कर ही करते हैं। यों कहिये कि दार्शनिक चर्चा में हम *सदृश* को मान कर चलते हुए ही सादृश्य की बात करते हैं। यों कहने में बात अटपटी लग सकती है, पर थोड़ा विचार कर के देखिये। बात यह है कि हम दार्शनिक विचार की मुद्रा में होते हैं तो सादृश्य की बात किसी *एक क्षेत्र की परिधि* के भीतर ही करते हैं - क्षेत्र कई हो सकते हैं : इन्द्रिय का ही नहीं गणित का, विचार का... ऐसे कई क्षेत्रों में हम साम्य की बात करते हैं। यह ठीक है कि सादृश्य भेद को मान कर ही चलता है - भेद के अंदर अभेद देखता है; या यों कहिये कि भेद को देखता हुआ कोई अभेद देखता है। पर हम *जिनमें* भेद देखते हुए सादृश्य की बात करते हैं उनकी हम एक परिधि सी भी ऊह्य रख कर चलते हैं।

आशय को खोलने के लिये सादृश्य-दृष्टि के एक और आयाम की ओर बढ़ कर देखिये। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा... इन की बात सोचिये - जो कि हम सोचते नहीं हैं। यहां सादृश्य किसी परिधि की परवाह नहीं करता - भेद के खाने या पेटे नहीं बनाता। विमर्श-विवेचना की मुद्रा में हम आंतर और बाह्य में एक कोटि-भेद जैसा भेद करते हैं - अगर तत्त्व का भेद न भी करें। पर उपमा में भेद अर्थ नहीं रखता - और ऐसा भी नहीं कि बात *काव्य* नामक अभिव्यक्ति के किसी सीमित क्षेत्र में होती हो, जिसे विचार के लिये नगण्य माना जा सकता है। बात आम बोलचाल में होती है - काव्य उसी का उपजीवी है (और विचार भी)। हम कहते हैं - 'मन घोड़े की तरह दौड़ रहा है', या उलटा भी कह सकते हैं - 'घोड़ा मन की तरह दौड़ रहा है' - आंतर और बाह्य का कोटि-भेद हमारे लिये भेदत्व ही खो देता है। यहां तुलसीदास जी के प्रयोग-विशेष की बात करता हुआ आगे बढ़ूंगा।

कहा जा सकता है कि आंतर का बाह्य में सादृश्य देखना स्वाभाविक है - स्वाभाविक ही नहीं अनन्य-गति होने के कारण अनिवार्य सा है। पर आंतर को बाह्य का उपमान बनाना दोष है। कहनेवाले दोष की बात यहां काव्य को ही मन में रख कर करते हैं - मैं बात-चीत में, 'घोड़ा मन की तरह दौड़ रहा है' कहूं तो दोष क्या हो सकता है? उलटे विवक्षा सटीक-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साकार हो जाती है। पर विवेचक यहां व्यामिश्र की - कोटि-व्यामिश्र की - बात करते देखे जा सकते हैं, यह कहते हुए कि आंतर का बाह्य में सादृश्य देखना भ्रान्त है, मिथ्या आरोप है (यह भूल जाते हैं कि बात *यहां* अगर आरोप की है तो बाह्य में आंतर का सादृश्य देखना भी वैसा ही मिथ्या आरोप होना चाहिये। कोटि - तत्त्व - व्यामिश्र का तोल दोनों ओर बराबर है)। बात सिर्फ प्रथा या अभ्यास की ही कही जा सकती है। प्रथा महाकवि बनाते हैं - और तोड़ते भी हैं। तभी तुलसीदास जी को ले रहा हूं। उनका प्रयोग देखिये : अरण्यकाण्ड में पंपा सरोवर का वर्णन करते हुए कहते हैं - *पंपा नाम सुभग गंभीरा // संत हृदय जस निर्मल बारी...*। (यहां वर्णन सरोवर के स्वच्छ जल का है और संत-हृदय को उसका उपमान बनाया गया है–आम तौर पर हम उलटा ही करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, पर तुलसीदास प्रतीप की सार्थकता को भी स्वच्छ प्रकट करते हैं।) आगे किष्किन्धाकाण्ड में ऐसी उपमाओं की लड़ी की लड़ी पिरो देते हैं। एक उदाहरण देता हूं, जिसका जलाशय से ही संबंध है - *सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा / जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा//*।

किसी प्राश्निक को ऐसे प्रयोग पर असंतोष या आपत्ति हो सकती है (हालांकि ये दो उपमायें तो भाव को निर्मल ही करती हैं)। पर मैं जो कहना चाह रहा हूँ, बात वहां गुण-दोष की या अभिव्यक्ति-महिमा की नहीं है - बात *कह पाने* की सार्थकता की है। बड़ी बात यह है कि *बात यों कही जा सकती है*। सादृश्य-दर्शन का यह समर्थ मार्ग है। स्पष्ट ही सादृश्य यहां कोटि के कटघरे का बंदी नहीं होता। ऐसी ही कोटि-मुक्तता विचार में भी देखी जा सकती है। विचार कविता से कहीं उजागर आत्म-बोध के साथ विभिन्न कोटियों में विचरण करता हुआ, उनके भेद के प्रति सजग-सचेत रहता हुआ अपने कथ्य को सक्षम करने के लिये उनमें निहित अभेद का सहारा लेता रहता है : ग्रीस के विचार में बात को अविचल युक्ति का रूप देने के लिये गणित का सहारा बार बार लिया जाता था। वहीं से चली यह बात पश्चिम के चिंतन में गणित को मूर्धन्य स्थान देती रही है। पर गणित की यह महत्ता चिंतन में अनिवार्य नहीं है - भारत या चीन के चिंतन में नहीं रही है। सच तो यह है कि चिंतन किसी भी क्षेत्र से प्ररणा ले सकता है, और लेता रहा है।

पर इससे क्षेत्रों का भेद मिट नहीं जाता - एक अर्थ में और स्फुट ही होता है। बोध में और उजागर होकर उभर आता है। पर साथ ही यह भी उभर आता है कि किसी क्षेत्र का अपनापन *सादृश्य* के आधार पर तो नहीं प्रतिष्ठित होता। सादृश्य तो क्षेत्र के भीतर- बाहर दोनों ओर प्रसृत देखा जा सकता है - भीतर क्या, बाहर क्या, इसे सादृश्य पूर्वगृहीत रखता हुआ व्यापृत होता है। हमारी चेतना सहज ही जगत् में और अपने आप में क्षेत्रों का भेद देखती है - जैसे आंतर और बाह्य का ही भेद नहीं, जड़ और जीव का भेद, वस्तु और व्यापार का भेद, आत्मचेतन, अनात्मचेतन का भेद; अपने भीतर ही झाँकें तो स्वप्न और जाग्रत का ही भेद नहीं, इच्छा और संकल्प का भेद, कल्पना और सत्यकाम अध्यवसाय का - या जिसे प्रमा-बोध कह सकते हैं - उसका भेद...। यहां कई प्रश्न हो सकते हैं - क्या क्या हैं ऐसे भेद? क्या इनके बारे में एकमत हुआ जा सकता है (भिन्न विचारक, विचार की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिन्न परंपरायें क्या ऐसे भेदों के अलग चक्र - या मण्डल और व्यूह - नहीं बनाती हैं - नहीं बनाती रहेंगी? (दर्शन का एक बड़ा प्रश्न ही रहा है - और रहेगा - कि पदार्थ क्या हैं, क्या क्या हैं?)। प्रश्न यह भी हो सकता है कि जिन्हें हम सहज-लब्ध *भिन्न* क्षेत्र कह रहे हैं वे सचमुच सहज-लब्ध हैं तो उनके बीच अंतर करना ऐसी समस्या क्यों है? (हम भी यहां इसी समस्या से जूझ ही रहे हैं!)। फिर किसी एक ही क्षेत्र के विस्तार, उसके प्रसार, उसके स्वरूप को समझना, आँकना-परखना और भी गहरी पहेली खड़ी करता है : भौतिक - या जड़ - को ही लीजिये, विज्ञान अपनी तरह से उसके स्वरूप में जितना उतरता है उतना ही उसे निस्तल पाता है। कला जैसे क्षेत्रों में तो हम इस पहलू को मान कर ही चलते हैं। स्पष्ट ही क्षेत्रों का भेद ही अस्पष्ट नहीं, उनकी अपनी भी कोई लक्ष्मणरेखा जैसी सीमा का पूर्वानुमान संभव नहीं दीखता।

फिर भी स्पष्ट ही क्षेत्र तो बनते हैं, और स्पष्ट ही ये एक अगाध अर्थ में *सामान्य* के क्षेत्र हैं। पर ये ऐसे किसी सादृश्य के आधार पर नहीं बनते दिखते जो विशेषों को घेरता-टोहता हुआ किसी एक-से-पन की आँख से एकजुट करता चलता है और एक *संघात* या गुच्छे जैसे में उन्हें बाँधता है। सादृश्य तो - जैसा कि हमने देखा - क्षेत्र के भीतर-बाहर दोनों ओर अपने पाँव रखता है, और क्षेत्र-अन्यक्षेत्र का विवेक सादृश्य का बोध नहीं करता, कोई और गहनतर बोध करता है जो विशेष से नहीं चलता, सीधा सामान्य को देखता है। तभी हम उपमा, रूपक में और गो इव गवयः जैसे नैयायिकों के उपमान 'प्रमाण' में भेद कर सकते हैं। उपमान को प्रमाण मानता नैयायिक साथ ही उपमान के प्रयोग का एक बड़ा संकीर्ण सा घेर भी मान कर चलता है। यह मान कर चलता है कि सादृश्य का प्रयोग हम गाय को जानते हुए किसी गाय जैसे जानवर की पहचान के लिये करेंगे - बस यह जानने के लिये करेंगे कि 'गवय' शब्द किस अनदेखे वन्य पशु के लिये प्रयुक्त होता है। पर गाय का सादृश्य तो हम आदमी में भी देखते हैं : 'कैसा गाय है'। यहां भी बात उपमान और सादृश्य की ही है - पर बात पशु-जाति पर सीमित नहीं रहती। पर उपमान 'प्रमाण' उस सीमा को मान कर ही बनता है - पर सीमा *सादृश्य* से कहां बनती है? अगर हम कहें भेद यहां सादृश्य और साधर्म्य का है, तो भी प्रश्न सादृश्य और साधर्म्य *में* भेद का बनेगा - हम जो देखते हैं क्या वह 'धर्म' नहीं होता? *दृश्य* धर्म में और उस धर्म में जिसे दृश्य नहीं कहेंगे, भेद किस आधार पर करेंगे? क्या आदमी में गाय का गुण-धर्म हम देखते नहीं हैं? किसी के बर्ताव को *देखते* हुए ही हम ऐसी बातें कहते हैं। बात दर-असल देखने की नहीं है - चाहे 'देखने' के अर्थ की हम कितनी ही सीमा बाँध दें। बात तो मनुष्य और पशु के कोटि - या तत्त्व - भेद की है जो सिर्फ देखने की बात है ही नहीं।

यहां एक टिप्पणी सी करता हुआ आगे बढ़ता हूं। उपमान-प्रमाण के प्रसंग में आदि नैयायिक गौतम ने अपने सूत्र में सादृश्य की नहीं, साधर्म्य की ही बात की है - *प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्* । आगे के विचारक बात प्रधानतः *सादृश्य* की ही करते हैं (उद्योतकर ने 'सारूप्य' का भी प्रयोग किया है)। पर बात 'सादृश्य' की ही है जिसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'सारूप्य' का सधर्मी कह सकते हैं। बात इन्द्रिय पर आकर ही ठहरती है, वह भी आँख के देखने पर। यों इन्द्रिय के देखने को प्राधान्य देने का कारण वात्स्यायन के पहले ही उदाहरण पर टिका जान पड़ता है - *गो इव गवयः* - जो आगे चल कर परंपरा-धन्य 'मूर्धाभिषिक्त' उदाहरण बन जाता है (गौतम ने कोई उदाहरण नहीं दिया है)। परंपरा 'साधर्म्य', 'सारूप्य', 'सादृश्य' में कोई पते का भेद करती नहीं दिखती - क्योंकि इन्द्रिय-लोक और भौतिक-जगत् से नहीं हटना चाहती। हां, उदयन ने लीक से कुछ हट कर कविता-धर्मी *उपमा* की भी बात की है। पर टालने के लिये ही की है। उदयन कहते हैं कि सादृश्य के उपमान बनने के लिये आवश्यक है कि जिनके बीच सादृश्य की बात की जाये दोनों एक ही जाति की चीज़ें न हों, उनमें जाति-भेद होना चाहिये, नहीं तो बात क्या बनेगी? गायों में भेद के साथ समान गुण और अवयव होते हैं, पर इससे उपमान जैसा कोई अपरिचित का परिचय और नाम बताने वाली बात नहीं सध सकती (*तदयं गोसदृश इत्यस्यार्थः। गोतो भिन्नजातीयः, तद्गतगुणावयवादि सामान्यबाहुल्यवानिति*)। पर फिर आगे कहते हैं, यहां 'दर्पण जैसा चाँद', 'चाँद जैसा मुँह', 'मुँह जैसा कमल', और आजकल चलता हुआ, 'कमल जैसा कमल', ये उदाहरण नहीं सधते हैं (*न साधीयः*) क्योंकि इनमें जाति-भेद के साथ (गुण-अवयव आदि) के सामान्य होने की बात उपपन्न नहीं होती है । यह और तरह का सादृश्य है (*नैतदपि साधीयः, दर्पण इव चन्द्रः, चन्द्र इव मुखम्, मुखमिवारविन्दम्, अरविन्दमिवारविन्दमिति चतुर्धा सादृश्यगतौ भिन्नप्रधानसामान्यनियमा-योगेन तदनन्तर्भाव्य एव सादृश्यप्रतिपत्त्युपपत्तेः*)। पर अंतिम उदाहरण को छोड़ भी दीजिये तो बाकी तीन पर उन्हें क्या आपत्ति है समझ में नहीं आया, सिवाय इसके कि जिस अर्थ में उदयन उपमान को 'परिचित के माध्यम से अपरिचित के परिचय और नाम-बोध का साधन' साधना चाहते हैं उस अर्थ में यहां बात नहीं बनती। वरना, यहां भी जाति-भेद के साथ गुण-अवयव-आदि सामान्य का बोध होता ही है और एक अनूठे अपरिचित संबंध का भी विस्मय-जगाता ज्ञान होता है।

पर शास्त्र-चर्चा को छोड़ कर मनुष्य पर आयें। सामान्य और विशेष के संबंध की बात नये सिरे से छेड़ें।

मनुष्य पर आते हैं तो साफ ही सामान्य के एक विलक्षण क्षेत्र में भी आ जाते हैं। यही क्षेत्र *अन्यों* का क्षेत्र भी है। इस बात को ध्यान में रखें तो सामान्य के बारे में एक और मर्म भी खुलता दिख सकता है। हम देख सकते हैं कि हर क्षेत्र में सामान्य और विशेष का संबंध एक जैसा नहीं होता। पत्थर-सामान्य - या भौतिक सामान्य ही कहिये - और मनुष्य सामान्य में सामान्य और विशेष की बात एक तरह से नहीं की जा सकती। भौतिक विशेष सामान्य में अपचित लगता है। विशेष का अपना कोई स्वभाव नहीं जान पड़ता, वह बहिरंग ही बहिरंग होता है, उसमें अंतरंग की बात वृथा जान पड़ती है। यहां हम कह भी सकते हैं कि विशेषों के बीच इन्द्रिय-गत सदृश-बोध के आधार पर ही हम संघात के रूप में एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य को खड़ा करते हैं। यों न सामान्य में कोई अंतर्वस्तु होती है, न विशेष में। मनुष्य के विषय में ऐसा कहना खोखली बात होगी।

आपत्ति हो सकती है (जो हमारी ऊपर की बातों में ही निहित देखी जा सकती है) कि कलाकृति भी इन्द्रिय का विषय होती है, और प्रकृति का सौन्दर्य भी, लेकिन यहां हम विशेष में एक अंतरंग का भी अनुभव करते हैं - जैसे मनुष्य में।

बात ठीक है। पर कलाकृति, प्रकृति, मनुष्य, तीनों में अंतरंग की बात करते हुए भी हम गहरे भेद भी देख सकते हैं। कलाकृति का अंतरंग कृति-गत होता हुआ भी हमारा *दिया-हुआ* अंतरंग होता है। प्रकृति के अंतरंग का प्रश्न टेढ़ा है। उसे हम आरोपित कहने की दिशा न लेना चाहें तो प्रकृति को किसी अभौतिक दृष्टि से भी देख सकने की बात करनी होगी। ऐसी बात सौंदर्य से भी स्फुटतर रूप से अध्यात्म में की जाती है। कबीर जब कहते हैं : 'साहिब मिल गये तिल ओले' तो बात एक परम चिन्मय अभेद-दृष्टि से कही गई बात है; अनुभव के एक असाधारण तुंग से, जहां इन्द्रिय भी चित् की आँख हो जाती है।

पर हम विमर्श के जिस स्तर पर अभेद के साथ भेद-दृष्टि को भी विचार का प्रेरक बनाते हुए विवेचना करना चाह रहे हैं वहां अध्यात्म-दृष्टि की गरिमा का स्वीकार भी करें तो बात उससे नहीं बनेगी। सामान्य और विशेष में भेद ही नहीं रहेगा जिसमें हम कुछ उतरना चाह रहे हैं।

मैं समझता हूं मनुष्य के क्षेत्र में *अन्य* को लें तो बात आगे निकाली जा सकती है। स्पष्ट ही अन्य सामान्य होता है - अन्यों में अन्य होता है। पर अन्य-अन्य-अन्य ऐसे सपाट सादृश्य से अन्य नहीं बनता। उसकी अपनी सत्ता होती है, अपना विशेष। इस विशेष का होना, विशेष के दूसरे प्रकारों से आधार-गत भेद रखता है। यह विषयी होता है, केवल विषय नहीं। वह आत्मचेतन होता है। भौतिक वस्तु की तरह सिद्ध नहीं साध्य होता है। तभी उसके आत्मस्थ *हो पाने* की बात सार्थक है। साध्य कलाकृति भी होती है, पर कलाकृति की साध्यता कलाकृति *में* नहीं होती, क्योंकि कलाकृति विषय ही होती है, विषयी नहीं।

पर मनुष्य विषयी होने के साथ विषय भी है। उसका अत्मचेतन विषयी होना उसे विषय भी बनाता है - अपना भी विषय और अन्यों का भी विषय। और साथ ही एक बात और जुड़ी हुई है, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं - मनुष्य *देही* होता है। उसका देही होना उसके आचरण के क्षेत्र को - उसकी रहनी-करनी को, या ऊपर की चर्चा को मन में रखते हुए यों कहें कि उसके व्यवहार-क्षेत्र या *कर्म*-लोक को रूप देता है। हम देख आये हैं कि मनुष्य का आत्मचेतन होना उसे औचित्य-बोध की धरती पर भी खड़ा करता है - बल्कि प्रवृत्ति के विभिन्न आयामों में औचित्य की एक चरिष्णु यात्रा के पथ का उसे पथिक बना देता है। चेतना के ये आयाम विमर्श और प्रतिभा के आयाम कहे जा सकते हैं और इनमें एक स्वातन्त्र्य का आलोक जागता है, जो देश-काल के परे है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर मनुष्य की *देहिक* सत्ता उसे देश-काल में ला रखती है - कार्य-कारण का अंग बना देती है; प्राण और चित्त के अपने संस्कारों, विवशताओं के पारतन्त्र्य से भी घेर देती है। हम आत्मचेतना को 'मध्यस्थ' कह आये हैं। आत्मचेतना का देही होना - या उसका देह-संबंध कहिये - यह उसे एक और विचित्र-जटिल आयाम देता है। उसका अपना वैभव भी है जो नृत्त में प्रकट होता है - जहां प्रतिभा का - विधि का - स्वातन्त्र्य मानो देह को भी प्रातिभ कर देता है।

कर्म में भी यह आयाम होता है, इसके बिना वह मनुष्य की करनी नहीं कहलायेगा। कैसा होता है यह आयाम, इसकी चर्चा आगे करूंगा।

पर यहां प्रश्नों और गुत्थियों की ओर ध्यान-खींचती शृंखला भी अलग खड़ी दिख सकती है। एक समस्या का इंगित अभी ऊपर आ चुका है : हमने कहा - या ध्वनित तो किया ही - कि मनुष्य में सामान्य और विशेष का रूप और संबंध अपना अलग स्वभाव रखता है। इसे कैसे समझा-आँका जाये? यहां इस प्रसंग में एक तीखा सवाल पहले ही आगे आता है : मनुष्य होना अगर आत्मचेतन होना है तो क्या हम मनुष्य सामान्य और मनुष्य विशेष इन दोनों भावों में आत्मचेतना की बात कर सकते हैं? या यों कहिये कि क्या आत्मचेतना के समष्टि-गत और व्यष्टि-गत, ये दो आयाम होते हैं? पर मनुष्य-सामान्य की या समष्टि की आत्मचेतना की तो बात समझ में नहीं आती। आत्मचेतन हम व्यष्टि-रूप से ही होते हैं। पर कर्म समष्टि की अपेक्षा रखता है - व्यवहार-लोक अन्यों के व्यवस्थित व्यूह का लोक होता है। समष्टि आत्मचेतन नहीं तो समष्टि-गत औचित्य-बोध क्या? उसके बिना समष्टि-निष्ठ व्यवहार को कर्म कैसे कहेंगे? या कि फिर कर्म व्यष्टि ही करता है - अन्य आत्मचेतन व्यष्टि के प्रति करता है - समष्टि की अपनी कोई सत्ता नहीं, वह व्यष्टि-संघात मात्र है, व्यष्टियों के परस्पर व्यवहार को एक धरती भर देती है। पर ऐसा कहना भी सीधा प्रश्न खड़ा करता है : व्यष्टि समष्टि के माध्यम से ही अपना आपा पाता है - भाषा की, आचरण की परंपरायें, जो समष्टि-निष्ठ होती हैं, इनके बिना व्यष्टि का व्यक्ति-भाव, उसकी अपनी आत्मचेतना, आत्मस्थता और चेतना के दूसरे ऊर्ध्वतर आयाम, इनको नींव ही कहां मिलेगी?

ऐसे प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए बात को आगे ले जाने की ओर अगली बार बढ़ूंगा।

क्रमशः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में आस्तिक परम्परा के प्राय: सभी दर्शन इस बात को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। सिद्धि शब्द[1] को अवबोधार्थक मानकर इस अभ्युपगम की वैधता पर कोई प्रश्न नहीं उठाता, और उठाना भी नहीं चाहिए। परन्तु जब हम इस अभ्युपगम पर एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में विचार करते हैं तो प्रकृत प्रश्न का पूरा कलेवर ही बदल जाता है। इस पर यह कहना कि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से 'प्रमाण' प्रथम और 'प्रमेय' तदनन्तर तथा सत्ता की दृष्टि से 'प्रमेय' प्रथम और प्रमाण तदनन्तरभावी होते हैं, अत्यन्त साधारण दृष्टिकोण है।[2] वस्तुत: प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापर भाव का निर्धारण उतना सरल नहीं जितना ऊपरी तौर पर समझा जाता है। अन्तत: यह प्रश्न प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के गौण-प्रधान भाव की अवधारणात्मक योजना में पर्यवसित हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने का यही उचित धरातल भी है।

अवधेय है कि भारतीय दार्शनिक अपने-अपने प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के लोक-सम्मत होने का दावा तो करते हैं लेकिन क्या इस दावे को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ कहा जा सकता है? वास्तव में अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से लोकानुभव को संस्कारित करते हुए उसी तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में लोकानुभव की व्याख्या करना उनका स्वीकार्य पक्ष प्रतीत होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रमाण की अवधारणा (स्वरूप, संख्या, विषय, विनियोग) पर सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय अधिशासन की छाया दीखती है। भारतीय दर्शनों का प्रमाणमीमांसीय पक्ष—वाकोवाक्यम्, वादविधि, आन्वीक्षिकी विद्या, हेतु विद्या—के रूप में जैसे-जैसे विकसित होता गया[3] वैसे-वैसे उस पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ता ही गया है। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मानना है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का इतिहास तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता से मुक्त होने की दिशा में विकासोन्मुख रहा है। परन्तु यह दृष्टि मुझे उचित प्रतीत नहीं होती। भारतीय दर्शन की विशिष्टता के साथ तभी न्याय किया जा सकता है जब उसके तत्त्वमीमांसीय, प्रमाणमीमांसीय एवं पुरुषार्थमीमांसीय पक्षों की व्याख्या एक आन्तरिक सम्बद्धता और परस्पर समंजस रूप में किया जाय। ध्यातव्य है कि सांख्य दर्शन से लेकर नव्यन्याय पर्यन्त 'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' के प्रति एक आंम सहमति बनी रही, लेकिन इस बीच अन्दर ही अन्दर इस अभ्युपगम़ पर बढ़ते हुए तत्त्वमीमांसीय अधिभार की न तो समीक्षा की गई और न ही व्यक्त रूप से इस बात को स्वीकार किया गया कि प्रमाणशास्त्र का उद्दिष्ट लक्ष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वयूथ्य की तत्त्वमीमांसा का संरक्षण करना है। इस लम्बे अन्तराल में नागार्जुन, जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष के द्वारा व्यक्त रूप में इस अभ्युपगम का प्रबल विरोध भी हुआ परन्तु 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के समर्थकों पर इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता जबकि यह है कि नागार्जुन, जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष का विरोध और खण्डनात्मक युक्तियाँ सन्देहवादी प्रकार के आक्षेपों से भी ज्यादा विस्थापक प्रकृति की रही हैं। अतएव 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' के अभ्युपगम पर विचार करना फिर से आवश्यक प्रतीत होता है। इससे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के स्वरूप एवं उसके निहितार्थ पर एक नया प्रकाश पड़ सकता है। यह प्रश्न बहुत व्यापक है और हमारे लिए यहाँ सम्भव भी नहीं कि हम उसी व्यापकता में इस पर विचार करें। एतदर्थ यहाँ हम प्रमाण की अवधारणा को सन्दर्भ बनाकर उस पर पड़ने वाले तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को उदघाटित करने का प्रया. करेंगे।

साधारणतया प्रमाणों की परिभाषा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के साधन के रूप में की जाती है। बौद्ध परम्परा में ठीक इसके विपरीत 'प्रमेयकार्यं प्रमाणं'[4] के रूप में एक अप्रचलित परिभाषा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। यह कोई अविचारित परिभाषा भी नहीं, बल्कि बौद्धों की दृष्टि से ठीक ही है। यह बात भी सही है कि प्रमाणों को परिभाषित होना चाहिए और परिभाषा को लेकर विवाद भी हो सकते हैं, लेकिन इस पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक स्वीकारोक्ति अथवा निषेध में प्रमाणीकरण की अपेक्षा आवश्यक रूप से निहित होती है। परन्तु हम यहाँ पूछ सकते हैं कि उन साक्ष्यों अथवा प्रमाणों का स्वरूप क्या है जो हमारे अभिकथनों अथवा निर्णयों को सही या ग़लत ठहराते हैं। इससे भी आधारभूत प्रश्न यह हो सकता है कि ऐसे साक्ष्यों अथवा प्रमाणों को हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं? फिर उन साक्ष्यों अथवा प्रमाणों की प्रामाणिकता क्या है? एक बार जब हम किसी साधन से प्राप्त होने वाले ज्ञान की प्रामाणिकता स्वीकार कर लेते हैं तो उसकी सीमा में आने वाली सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। परन्तु इस रूप में प्रमाणों का आह्वान स्वयं में प्रमाण विषयक विवादों को भी उपस्थापित करता है। यदि प्रमाणों के उपलब्ध होने के पश्चात् प्रमाणों के सम्बन्ध में ही विवाद उत्पन्न हो जाय तो क्या स्वयं प्रमाण इस विवाद को सुलझा सकते हैं ?

उपर्युक्त प्रश्न अपने स्वरूप में न तो प्राक्कल्पना मात्र हैं और न ही इन्हें दुष्ट प्रश्न कहा जा सकता है। ये सभी प्रश्न प्रमाण की अवधारणा से आधारभूत रूप में सम्बन्धित हैं, अतएव इन्हें आवश्यक रूप से उठाया जाना चाहिए। वास्तव में प्रमाण की खोज कोई आनुभविक अन्वेषण नहीं है। इसे आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति भी नहीं कहा जा सकता। यदि एक बार हम यथार्थ ज्ञान का कोई निकष बना लें तो उस मानदण्ड के आधार पर प्रमाणों को आगमनात्मक रूप से उपलब्ध किया जा सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सारा दारोमदार उस निकष पर आधृत हो जायेगा, और तब यथार्थ ज्ञान के उस निकष को प्रमाणाश्रित कहा जाना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। पुनः, यथार्थ ज्ञान के निकष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर आश्रित प्रमाण और उन प्रमाणों पर आश्रित यथार्थ ज्ञान एक प्रकार से चक्रक दोष से भी ग्रसित हो जायेगा। अतएव यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के मानदण्ड को कम से कम प्रमाण-निरपेक्ष स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

यदि हमें यथार्थ ज्ञान का कोई निकष उपलब्ध भी हो जाता है, तो पुनः हम पूछ सकते हैं कि वे कौन और कैसे प्रमाण हैं जो इसके अनुरूप यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि कराते हैं? यहाँ कोई कह सकता है कि वह जो यथार्थ वस्तु है, उसका उचित रूप में प्रतिनिधित्व करने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु तब यथार्थ वस्तु को उस रूप में पहले ही ज्ञात होना चाहिए! इस तरह यह पुनः प्रमाण-निरपेक्ष हो जायेगा। परन्तु इस रूप में हम यथार्थता को कैसे जान सकते हैं? यह किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है कि यथार्थता का स्वरूप ऐसा है जिसकी अनुरूपता में यथार्थ ज्ञान को निरूपित होना है? इसलिए यह स्पष्ट है कि यथार्थता विषयक इस प्रकार के निर्धारण को प्रमाणों से उत्प्रेरित नहीं कहा जा सकता। इसे प्रमाण-पूर्ववर्ती ही होना चाहिए, क्योंकि इसी रूप से वह प्रमाणों के प्रकार और उनके प्रमाणत्व का निर्धारक हो सकता है। अतएव कहा जा सकता है कि यदि यथार्थता ऐसी है तो उसके अनुरूप 'यह' ज्ञान यथार्थ ज्ञान होगा और यदि 'यह' ज्ञान यथार्थ है तो उसकी प्राप्ति जिन साधनों से होगी उसे ही प्रमाण की कोटि में सम्मिलित किया जाना सम्भव होगा।

प्रमाण-निरपेक्ष यथार्थता की ज्ञान-पूर्ववर्तिता को किसी रहस्यानुभव के रूप में भी प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। ऐसी यथार्थता स्वयं ही स्वरूपतः प्रमाणमीमांसीय समीक्षा से बाहर होती है, क्योंकि प्रमाणों का उससे किसी प्रकार का योगायोग ही सम्भव नहीं होता। हाँ, इस समस्या के समाधान के लिए यथार्थता को एक तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु यथार्थता का इस रूप में निर्धारण भी आनुभविक न होकर प्रागनुभविक ही होगा। तब प्रमाणों के सम्पूर्ण उपक्रम का एक जाने पहचाने विश्वास के बौद्धिकीकरण अथवा बनी-बनायी तात्त्विक पूर्वकल्पना के विवेचन मात्र में पर्यवसित हो जाना स्वाभाविक ही है। वास्तव में दर्शन के किसी सम्प्रदाय विशेष में जिस प्रकार से हम प्रमाणों का विनियोग करते हैं उस पर गम्भीरता से विचार करने पर प्रमाण उस दर्शन की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना का 'पैराफ्रेज़' ही ठहरते हैं। आश्चर्य है कि उस दर्शन में स्वीकृत प्रमाण उस दर्शन की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना पर निर्भर करते हैं और स्वयं के लिए उससे पूर्ववर्ती होने का दावा भी करते हैं। अतएव प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि के अभ्युपगम के प्रति प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका को तटस्थ नहीं कहा जा सकता।

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणविषयक अनेकानेक विवाद सर्वविदित हैं। यदि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ होती तो प्रमाणों के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवाद नहीं होना चाहिए था। ऐसी स्थिति में प्रमाणों का सर्वथा निर्दुष्ट मानदण्ड अथवा उनका कोई सर्वस्वीकृत आदर्श स्वरूप स्वीकार किया जा सकता था। इस पर भी किसी को आपत्ति नहीं होती कि प्रमाण समस्याओं के सर्वमान्य समाधान का सामर्थ्य रखते हैं या नहीं! परन्तु ऐसा न कभी हुआ और न होगा। दार्शनिकों के मध्य प्रमाणों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्वरूप, संख्या, विषय और फल को लेकर असमझौता पूर्ण मतभेद रहे हैं। ऐसे मतभेद इस तथ्य को आवश्यक रूप से उद्‌घाटित करते हैं कि प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका तात्त्विक विवक्षा में तटस्थ नहीं हैं, जैसाकि 'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' के समर्थक इन्हें स्वीकार करते हैं।

यहाँ विचारणीय है कि यदि प्रमाणों के स्वरूप और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में ही विवाद उत्पन्न हो जाय तो इस विवाद का समारम्भ और समापन क्या स्वीकृत प्रमाणों की अध्यक्षता में हो सकता है? इस बहस को आगे बढ़ाते हुए उसे एक निर्णय तक पहुँचाने के लिए स्वयं प्रमाणों को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवाद प्रमाण विषयक होने से वह अभियोग के कठघरे में है। हम किसी अतिरिक्त प्रमाण का आह्वान भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह अतिरिक्त प्रमाण भी उसी विवाद का हिस्सा हो जायेगा जिस विवाद को सुलझाने के लिए उसका आह्वान किया गया था। इसके लिए किसी अधिक आधारभूत प्रमाण की शरण में भी नहीं जाया जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई आधारभूत प्रमाण सम्भव ही नहीं जिसे अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक आधारभूत और साथ ही अधिक प्रामाणिक कहा जा सके। वस्तुतः इस रूप में प्रमाणों की खोज अपने को एक आवर्तीय अपर्याप्तता में पतित करना है जिससे बाहर निकलना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

यह बात ठीक है कि स्वीकार की गयी किसी प्रमाण-योजना में कोई एक प्रमाण आधारभूत नहीं होता जो अन्य प्रमाणों की प्रामाणिकता को निर्धारित करे, लेकिन इसके बदले किसी आकारिक सत्य की संकल्पना को तो स्वीकार किया जा ही सकता है। आकारिक सत्य स्वयंसिद्ध और स्वतःप्रमाण होते हैं। इनके प्रति हमारी स्वीकारात्मक अभिवृत्ति सहज ही होती है, इन्हें प्रवृत्तिमूलक दृढ़ विश्वासों से आयातित सत्य भी कहा जा सकता है। हमारी विचारणा में इस प्रकार से कुछ तथ्य आवश्यक रूप से अन्तर्निहित होते हैं। उदाहरण के लिए 'विरोध के नियम' को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार कोई वस्तु साथ-साथ सत्य और असत्य नहीं हो सकती। 'विरोध के नियम' को तब तक अस्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि हम अस्वीकृति के लिए किसी दूसरे सुसंगत सिद्धान्त को पूर्वकल्पित न कर लें। उपर्युक्त समस्या विषयक इस पहल से यदि ज्यादा नहीं तो इतना अवश्य आपादित हो सकता है कि यथार्थता के विषय में कुछ न जानते हुए इतना तो हम अवश्य जान रहे होते हैं कि यथार्थ को आत्मसंगत होना चाहिए।

यद्यपि स्वयंसिद्ध और आत्मसंगत सत्य का दृष्टिकोण उपर्युक्त विवक्षा के लिए आपाततः उपादेय प्रतीत हो सकता है तथापि इससे उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी की आशंका के प्रति हमें सतर्क रहना चाहिए। यह सम्भव है कि कुछ शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वयंसिद्ध प्रतीत हो, लेकिन उसे दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी अत्यधिक अन्तरंगता के चलते कोई वस्तु अथवा दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रूप में अवभासित होता है, लेकिन फिर भी प्रामाणिकता की तार्किक अपेक्षा से वैसे विषयों का कुछ भी लेना-देना नहीं होता। परन्तु उपर्युक्त सन्दर्भित 'विरोध के नियम' को इतने तुच्छ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ में स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता। यह एक तार्किक सिद्धान्त है जो भाषा के सामान्य नियमों से अधिशासित होता है। जहाँ तक हम भाषा का आभिप्रायिक प्रयोग करते हैं वहाँ तक ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है। यहाँ भाषा के नियम से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर ध्यान दिया जाना उपयोगी हो सकता है। इस विशेषता के द्वारा प्रमाण की अवधारणा के सम्बन्ध में 'विरोध के नियम' जैसे तार्किक नियमों की अनुपयोगिता को सहज ही उजागर किया जा सकता है। भाषा के नियम उस विषय-वस्तु को निर्धारित नहीं करते जिसके विषय में भाषा प्रयुक्त होती है। उस विषय-वस्तु के सम्बन्ध में कैसी भाषा प्रयुक्त हो, भाषा के नियम केवल इतना ही बताते हैं। उदाहरण के लिए शतरंज के नियम हमारी अगली पहल को निर्देशित नहीं करते। इसी प्रकार 'विरोध का नियम' वस्तुस्थिति की यथार्थता को इस प्रकार निर्धारित नहीं करता कि वह कैसी और क्या है? इससे केवल इतना ही प्रतिपादित किया जा सकता है कि यदि 'यही कुछ' वस्तुस्थिति है तो यह अन्यथा नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार के आकारिक निर्धारण को वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा हम यथार्थता विषयक किसी नवीन ज्ञान को अग्रसारित भी नहीं कर पाते हैं। यह जानना कि 'वर्षा होना' और 'वर्षा नहीं होना' एकसाथ घटित नहीं हो सकता, स्वयं वर्षा हो रही है अथवा नहीं, के विषय में कुछ भी नहीं जानना है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष से बच नहीं सकते कि किसी भी विकसित प्रमाणमीमांसा में कुछ ऐसे तत्त्व सम्मिलित होते हैं जिनकी व्याख्या प्रमाणमीमांसा के ऊपरी धरातल पर और उस प्रमाणमीमांसा के स्वीकृत उपकरणों की सीमा में नहीं की जा सकती। हमें ऐसे तत्त्वों अथवा समस्याओं की व्याख्या के लिए उस सीमा से बाहर जाना पड़ता है, क्योंकि ऐसे तत्त्व, वास्तव में, अपनी प्रकृति में 'अधिप्रमाणमीमांसीय' होते हैं। कोई प्रमाणमीमांसा अपने में ऐसे अधिप्रमाणमीमांसीय तत्त्वों को अक्सर तत्त्वमीमांसीय आयाम से आयातित कर लेती है। एक विशेष प्रकार का तत्त्वमीमांसीय पूर्वग्रह ही वह अभ्युपगम है जो विशेष प्रकार के प्रमाणों की प्रतिस्वीकृति को अधिशासित करता है। यदि यह प्राक्कल्पना सही है तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी दर्शन विशेष की प्रमाणमीमांसीय योजना में तत्त्वमीमांसीय भेद ही परिलक्षित होते हैं। के.सी. भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है कि तर्कशास्त्र अथवा प्रमाणमीमांसा के माध्यम से तत्त्वमीमांसा अपने को परिभाषित करती है। यह बात भारतीय दर्शन के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में निर्विवाद रूप से प्रतिपादित होते देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित अधिकांश प्रकरणों पर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा जिस तरह से विचार किया गया है उसके माध्यम से उन-उन दर्शनों के तत्त्वमीमांसीय भेदों का ही पुनरावर्तन हुआ है। भारतीय दर्शन में इस प्रवृत्ति का विस्तार न केवल प्रमाणमीमांसा तक बल्कि भाषा दर्शन तक देखा जा सकता है।

द्रष्टव्य है कि हमारी उपर्युक्त समीक्षा के विरोध में प्रमाणमीमांसीय विचार-सरणी का एक दूसरा विरोधी पक्ष भी प्रस्तावित किया जा सकता है, जिसके अनुसार कोई यह कह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है कि न्याय दर्शन में प्रमाणमीमांसा का विकास तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से मुक्त रूप में हुआ है। दूसरे शब्दों में, न्याय दर्शन मूलतः यद्यपि एक प्रमेयशास्त्र है लेकिन इस दर्शन की प्रमाणमीमांसा पूरे तौर से प्रमेय-अवग्रहपूर्वक विकसित नहीं हुई है। इसीलिए नैयायिकों को पहले लक्षणैकचक्षुक और बाद में प्रमाणैकचक्षुक कहा जाता है। वस्तुतः 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' की मूलभूत दृष्टि के सन्दर्भ में प्रमाणमीमांसा का विकास इसी रूप में होना भी चाहिए, लेकिन इस दृष्टि की कुछ अपनिष्पत्तियाँ भी हैं। और फिर नैयायिकों के प्रमाणचिन्तन में यह दृष्टि कितनी फलित हुई है, यह भी विचारणीय है। प्रमेय-अवग्रह से मुक्त प्रमाणमीमांसा के विकास का तात्पर्य है–प्रमाणों के स्वरूप को एक 'आकारिक संस्थान' के रूप में सुनिश्चित करना। परन्तु यह बात आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में न्यायशास्त्र की मूलभूत परिभाषा 'प्रत्यक्षसगमाश्रितं चानुमानम्, सान्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी, न्यायविद्या' से मेल नहीं खाती। क्योंकि यह परिभाषा स्पष्ट रूप से आगमप्रोक्त तत्त्वमीमांसीय अवग्रह को स्वीकार करती प्रतीत होती है। न्याय-परम्परा में वार्तिककार उद्योतकर भारद्वाज ने आन्वीक्षिकी विद्या को बिल्कुल भिन्न तरीके से परिभाषित किया है–'संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकीति।'[5] कदाचित् इस परिभाषा को आधार बनाकर प्रमाणमूलक न्यायशास्त्रीय पद्धति को 'फॉरमलाइज़ेशन ऑफ प्रूफ प्रिसीडेन्स' से एक सीमा तक जोड़ा जा सकता है और प्रमाणों के स्वरूप को वस्तुस्थिति से तटस्थ एक आकारिक संस्थान के रूप में अवधारित किया जा सकता है।

गौतमीय न्यायशास्त्र के विकास के विभिन्न सोपानों पर गम्भीरता से विचार करने पर ऐसे कई संकेत प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक स्थिति के बाद गौतमीय प्रमाणमीमांसा का विकास प्रमेय-निरपेक्ष ढंग से अग्रसारित हुआ है। वास्तव में विकास की यही दिशा नव्यन्याय को प्राचीन न्याय से अलग करती है। फिर भी इस रूप में भी नव्यनैयायिकों के तर्कशास्त्रीय प्रमाण-चिन्तन का विकास हमें यह कहने की खुली छूट नहीं देता कि यह विकास ठीक वैसा ही है जैसाकि आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र का, अथवा वैसा जैसा विगत दशकों में जे.एफ. स्टॉल, कार्ल पॉटर एवं इंगाल्स इत्यादि अमरीकी तर्कशास्त्रियों ने दावा किया है।[6]

यहाँ विचारणीय है कि गौतमीय न्यायशास्त्र की संरचना में निहित वह कौन सा मूलभूत प्रश्न रहा है जिसने नैयायिकों को एक विशेष दिशा में अपने प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन को विकसित करने के लिए प्रेरित किया है। ऐसे कई एक आधारभूत प्रश्नों को रेखांकित किया जा सकता है जिसका सामना लगभग एक हज़ार वर्ष तक बौद्ध आलोचना के रूप में नैयायिकों को करना पड़ा है।[7] यदि हम उन सभी विध्वंसात्मक और संशोधनात्मक प्रश्नों को छोड़ भी दें और गौतमीय न्यायशास्त्र की मूलभूत दृष्टि 'मानाधीना मेय सिद्धिः' पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि यही दृष्टि अपनी चरम परिणति में प्रमाणों की अवधारणा प्रमेय-निरपेक्ष अथवा एक आकारिक संस्थान के रूप में करने की अपेक्षा लिए हुए है। यदि सब कुछ प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए तो सब कुछ के अन्तर्गत प्रमाण भी आते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं, अतः प्रमाणों को भी इतर अथवा अवान्तर प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। जहाँ तक प्रमाणों से प्रमेयों की सिद्धि होने की बात है तो यह लोकप्रसिद्ध भी है, लेकिन स्वयं प्रमाण ही जब अन्य प्रमाण (अनुमान) से अपनी सिद्धि करने लगेंगे तो या तो अनवस्था दुर्निवार होगी या फिर प्रमाण 'प्रमेय' होने लगेंगे और तब प्रमाण तथा प्रमेय की भेदपूर्ण स्थिति ही समाप्त हो जायेगी, जिस पर नैयायिक अपनी प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा खड़ा किये हुए हैं।

यहाँ मूलभूत प्रश्न 'अनवस्था' का है और यह दुर्निवार है, क्योंकि इसके परिहार के लिए जो आवश्यक है उसे नैयायिक स्वीकार नहीं कर सकते। अतः अनवस्था को उन्हें प्रदत्त स्थिति के रूप में स्वीकार करना होगा और ऐसा स्वीकार करना विशुद्ध तार्किक दृष्टि से सम्भव भी है, क्योंकि तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया का कोई निश्चित अन्त हो यह आवश्यक नहीं, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसा कोई तार्किक अणु नहीं जिसके और विभाजन की कल्पना न की जा सके। इस प्रकार अनवस्थित स्थिति अथवा अनवस्था की अविश्रान्त अवस्था को प्रदत्त मानकर भी व्यवहार सम्पादन और प्रवृत्ति-साफल्य के द्वारा प्रामाण्य निर्धारण की व्यवस्था सम्भव हो सकती है[8], लेकिन प्रमाण-सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की आवर्तीय अपेक्षा एक ओर प्रमाणों को वस्तुस्थिति से स्वतन्त्र आकारिक संस्थान में पर्यवसित करती जाती है तो दूसरी ओर उन्हें प्रत्येक स्थिति में अन्ततः असिद्ध भी छोड़ देती है।

द्रष्टव्य है कि नैयायिकों ने प्रमाणों के प्रमेय-निरपेक्ष, अर्थात् आकारिक स्वरूप को निर्धारित करने के लिए 'लक्षणमीमांसा' को आधारभूत महत्त्व प्रदान करते हुए 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' और 'मान सिद्धिश्च लक्षणात्' के अभिगम को प्रस्तावित किया है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक प्रमेयों की सिद्धि का प्रश्न है, उसे प्रमाणपूर्वक ही होना चाहिए, लेकिन स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से न होकर लक्षणपूर्वक होती है। मानाधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्—यहाँ सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण से है और वह भी ऐसा स्वरूप जो प्रमेय-निरपेक्ष अथवा वस्तुस्थिति से तटस्थ हो। नैयायिकों की इस पहल के विरुद्ध अनेक प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं, जैसे (1) प्रमाण अपने स्वरूप में प्रमेय-निरपेक्ष आकारिक संस्थान है तो ऐसे प्रमाण वास्तविक जगत् से किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं? (2) क्या नैयायिकों को वास्तविक जगत् के दो स्वरूप मान्य हैं—एक वास्तविक और दूसरा तार्किक? (3) फिर दोनों में सम्बन्ध क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर न्याय-दर्शन में चाहे जिस प्रकार भी दिया गया हो, इतना तो स्पष्ट है कि नैयायिक लक्षणमीमांसा के द्वारा प्रमाणों के स्वरूप को एक आकारिक संस्थान के रूप में निर्धारित करने के लिए अग्रसर दिखाई पड़ते हैं। ज्ञान को निराकार मानकर शब्दाकार एवं वाक्याकार में उसे निरूपित करने के लिए संसर्गता, प्रकारता एवं विशेष्यता इत्यादि की संकल्पनाओं के द्वारा नैयायिक वस्तु-जगत् के वास्तविक और तार्किक आकार को ही सम्बद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं। पुनः, नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में लक्षण-मीमांसा का महत्त्व इससे भी विदित होता है कि जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष ने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैयायिकों का खण्डन इसी मूलभूत अभ्युपगम पर कुठाराघात करते हुए किया है। दूसरे शब्दों में, जयराशिभट्ट एवं श्री हर्ष का लक्षणोच्छेदी अभियान लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का ही खण्डन है।

यहाँ विचारणीय है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण का ऐसा उपक्रम जो किसी वस्तुस्थिति विशेष अथवा अन्तर्वस्तु से तटस्थ हो, एक प्रकार से नैयायिकों के प्रमाण-चिन्तन को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान करता है। किन्तु तब उन्हें किसी प्रकार की प्रमेय-व्यवस्था में अभिनिवेश नहीं रखना चाहिए। लेकिन फिर भी नैयायिक पूरी कट्टरता के साथ एक विशेष प्रमेय तन्त्र के प्रति अभिनिवेश रखते हैं।[9] अतएव उन्हें इसका प्रबल विरोध भी सहना पड़ा है। इस विरोध का पहला रूप प्रमेय-तन्त्रात्मक है, जिसे न्याय, बौद्ध और वेदान्त के बीच के ऐतिहासिक खण्डन-मण्डन के रूप में देखा जा सकता है। अवधेय है कि खण्डन-मण्डन के मूलभूत मुद्दे प्रमेयमूलक ही रहे हैं। इस विरोध का एक दूसरा रूप 'लक्षणमीमांसा' के खण्डन से सम्बन्धित है जो नैयायिकों की मूलभूत मान्यता को ही सर्वतोभावेन निरस्त करता हुआ प्रतीत होता है। इसके अग्रदूत नागार्जुन, जयराशि भट्ट एवं श्रीहर्ष कहे जा सकते हैं। यद्यपि यह विरोध बहुध्रुवीय होने से बहुत संगठित नहीं रहा है फिर भी इसके मूल सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में न्यायशास्त्र के प्रमाणमीमांसीय और तर्कशास्त्रीय विकास के फलाफल एवं निहितार्थ को भलीभाँति समझा जा सकता है। हम यहाँ इसकी विस्तृत चर्चा न कर संक्षेप में ही कुछ बिन्दुओं को उभारने का प्रयास करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि लक्षणमीमांसा का अभ्युपगम भी अन्ततः तत्त्वमीमांसीय लंगर से बँध ही जाता है।

न्याय-परम्परा में प्रमाणमीमांसा के पूर्वसूत्र के रूप में लक्षणमीमांसा के प्रति आत्मविश्वास इतना अधिक रहा है कि कभी-कभी परम्परा में गर्वपूर्ण उक्तियाँ देखने को मिलती हैं। ऐसी ही एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है–ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वतः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चिताः–[10] एक-एक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने से ऋषि भी पदार्थों के अन्त तक नहीं पहुँच सकते हैं, किन्तु विद्वान लोग सिद्धपदार्थों के लक्षण की सहायता से पदार्थों के अन्त तक पहुँच जाते हैं। 'व्यावृत्तिव्यवहारो हि लक्षणस्य प्रयोजनम्–' साधारणतया व्यावृत्ति और वाग्व्यवहार को लक्षण का प्रयोजन माना जाता है।[11] इस रूप में 'लक्षण' वह लोकप्रसिद्ध आकार है जो लक्ष्य में रहता है और लक्ष्य को उसके सजातीय तथा विजातीयों से अलग करता है। यदि ऐसा ही है तो लक्षणमीमांसा को प्रमाणमीमांसा के लिए तभी उपकारी बताया जा सकता है जब उसे प्रमाण और प्रमेय से पहले प्रयुक्त किया जाय, जो सम्भव नहीं दीखता। इसलिए जयराशि भट्ट एवं श्रीहर्ष ने लक्षण की संकल्पना को सर्वतोभावेन आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों से युक्त बताया है। बिना किसी प्रमेय या प्रमाण को माने लक्षण नहीं किया जा सकता और बिना लक्षण किये प्रमाण और फिर प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकते। अतः इतरेतराश्रय-दोष लक्षण-कल्पना में विद्यमान है। लक्षण सम्भव नहीं होने से निर्वचन-व्यापार भी सम्भव नहीं, तब अनिर्वचनीयता-प्रसक्ति आवश्यक हो जाती है। इस तरह किसी विषय का न तो लक्षण हो सकता है, न ही ज्ञान, और तब न तो प्रमाण और न प्रमेय ही सिद्ध हो सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ने इस अनिष्ट प्रसंग का समाधान करते हुए कहा है कि लक्षण की संकल्पना में आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों की उद्‌भावना उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ सन्देह होता है वहीं किसी लक्षण के द्वारा लक्ष्य के स्वरूप-निर्धारण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम अपने साधारण अनुभव के द्वारा ही किसी असाधारण लक्षण के द्वारा बहुत सी गायों के बीच अपनी गाय को पहचान लेते हैं। यद्यपि इस तरह से किसी असाधारण गुण के द्वारा गाय की पहचान, उस गुण को गाय का तर्कतः पुष्ट या शुद्ध लक्षण नहीं बनाती तथापि इससे व्यवहार चलता ही है। अतएव लोक-व्यवहार में हम कहीं से अपनी ज्ञान-यात्रा प्रारम्भ करते हैं और वहीं से आगे बढ़कर प्रमाण-प्रमेय-विवेचन तक पहुँचते हैं। यद्यपि हम बाद में अपने उपक्रम की परीक्षा भी करते हैं, तथापि उसी उपक्रम के द्वारा हमारा सारा ज्ञान विकसित होता है। भासर्वज्ञ विशेष, लक्षण, चिह्न, अंक को पर्यायवाची मानते हैं और उनके माध्यम से लक्ष्य की पहचान करते हैं। उनका कहना है कि सन्देह-स्थलों में भी विशेष का संदर्शन होने से सन्देह दूर हो जाता है। इस प्रकार 'विशेष' लक्षण का कार्य करता है। वह अपने लक्ष्य को निश्चित कर देता है। इस पर यदि कहा जाय कि ऐसे लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हुआ करते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे लक्षण से भी लक्ष्य की पहचान तो हो ही जाती है। उदाहरण के लिए मैं अपनी गाय को विलक्षण सींग से पहचान लेता हूँ। यद्यपि विलक्षण सींग एक अतिव्याप्त लक्षण है, तथापि वह अपना कार्य कर देता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ मुख्य मुद्दा लक्ष्य का बोध है और वह जिसके द्वारा होता है वही लक्षण है। लक्षण चाहे प्रकृत में दुष्ट और निर्दुष्ट जो भी हो, सामान्यतः लक्ष्य का बोध होने पर लक्ष्य उससे अप्रभावित ही रहता है। अतः लक्षण करना सम्भव है, व्यवहारोपयोगी है और उसकी निर्दुष्टता एवं सदोषता के लिए परीक्षा-परिष्कार का द्वार सदैव खुला हुआ है।

अब यहाँ प्रसंगतः विचारणीय हो जाता है कि लक्षण स्वयं में कोई प्रमाण है या नहीं? इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र का मानना है कि लक्षण वाक्य केवल व्यतिरेकी हेतु वचन हैं और इस प्रकार उन्हें केवल व्यतिरेकी अनुमान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। परन्तु केवल व्यतिरेकी के रूप में लक्षण को अनुमान मान लेने पर कठिनाई यह हो सकती है कि तब लक्षण उसके पहले से ही प्रमाणित और सिद्ध होना चाहिए। जब तक अनुमान का लक्षण न हो, फिर केवल व्यतिरेकी अनुमान का लक्षण न हो, तब तक दोनों उत्पन्न नहीं हो सकते। इस परिस्थिति से बचने के लिए पुनः भासर्वज्ञ का मानना है कि लक्षण केवल व्यतिरेकी तो है लेकिन वह प्रमाण-विषयक न होकर प्रमेय-विषयक है। उनका तात्पर्य यह है कि लक्षण स्वयं में प्रमाण तो नहीं किन्तु प्रमाण का सहकारी है। यह एक सोपान है जिसकी सहायता से हम प्रमाण-प्रमेय विचार का आरम्भ कर सकते और उस तक पहुँच सकते हैं।

नैयायिकों ने इस लक्षणमीमांसा का प्रयोग अपने प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बहुधा किया है। इन लोगों ने प्रमाणों को जिस रूप से परिभाषित किया है वे सभी प्रमाणों के स्वरूप-लक्षण कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा प्रमाणों की प्रातिस्विक अर्थात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतिविषय नियत विशेषताओं पर प्रकाश नहीं डाला गया है, बल्कि उन प्रमाणों के सामान्य रूपों की खोज की गई है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, अनुमान वह है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के समुचित ज्ञान से उत्पन्न होता है, शब्द वह है जो व्यक्त शब्द से उत्पन्न होता है। इन सभी परिभाषाओं को तत्तद् प्रमाणों का सामान्य लक्षण कहा जाता है, जो अपने स्वरूप में प्रमेय-निरपेक्ष, वस्तुस्थिति से तटस्थ अर्थात् तत्तद् प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान की प्रातिस्विक स्थितियों से सम्बद्ध नहीं हैं। नव्यन्याय-परम्परा में ऐसे लक्षणों की भरमार है। वे लोग केवल नये लक्षणों को ही सामने नहीं लाये बल्कि उन्होंने पुराने लक्षणों का परिष्कार भी किया है। इसके चलते न्याय-परम्परा में एक कहावत प्रचलित हुई कि 'बुद्ध्या यदुपपन्नं तन्न्यायमतम्'। वस्तुतः सामान्यीकरण एवं विश्लेषण की प्रवृत्ति प्राचीन न्याय में भी विद्यमान रही, लेकिन वह प्रमेय सम्बन्धी विचारों से मानो अभिभूत सी हो गई थी। लेकिन नव्यनैयायिकों ने लक्षणमीमांसा को प्रमेय-निरपेक्ष ढंग से आगे बढ़ाया है। यदि न्याय-दर्शन के विकास को शुद्ध भारतीय तर्कशास्त्र की दिशा में देखने का प्रयास किया जाय तो इसी दिशा में और इसी आधारभूमि पर उसे समझा जा सकता है। बी.के. मतिलाल, जे.एन. मोहन्ती, पी.के. मुखोपाध्याय, विश्वम्भर पाही इत्यादि ने अरस्तूवादी तर्कशास्त्र से भिन्न न्याय-परम्परा में हिन्दू तर्कशास्त्र के विकास को इसी रूप में देखा है। वस्तुतः जब ज्ञान आवश्यक रूप से भाषा में अभिव्यक्ति पाता है तो उसमें कुछ तार्किक आकार अन्तर्निहित होते हैं, क्योंकि तार्किकता का जन्म ही मानो भाषा के प्रयोग के साथ होता है। अतः नैयायिक अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व की व्याप्ति मानकर भाषा में निहित उन सामान्य आकारों को उद्घाटित करते हैं जो वास्तव में तार्किक आकार भी कहे जा सकते हैं। नैयायिक जब किसी वस्तु का सामान्य लक्षण निर्धारित करते हैं तो उसका निहितार्थ ऐसा ही होता है।

प्रकृत प्रसंग में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का एक तर्कशास्त्र के रूप में विकास भी तत्त्वमीमांसीय अवग्रह से मुक्त नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इसके दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं। पहला यह कि लक्षणमीमांसा को एक पद्धति के रूप में इतनी स्वायत्तता प्राप्त ही नहीं हो सकती। दूसरा यह कि वैकल्पिक सामान्य लक्षण सम्भव हैं और फिर एक ही परम्परा में लक्षणों के परिष्कार का इतिहास बिल्कुल भिन्न आशय का द्योतन कराता है। इसमें पहले पक्ष को लें तो लक्षणमीमांसा की पद्धति की स्वायत्तता के विरुद्ध कुछ आधारभूत प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं। प्रमाणमीमांसा को लक्षणमीमांसा पर आधारित करने का तर्क यह हो सकता है कि प्रमाणों का विचार आवश्यक रूप से प्रमाणों के लक्षण अथवा परिभाषा के विचार को पूर्वापेक्षित करता है। परन्तु यह बात अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर उचित प्रतीत नहीं होती, जहाँ एक सामान्य व्यक्ति भी प्रमाणों को सुनिश्चित रूप से परिभाषित किये बिना ही उनका भली-भाँति प्रयोग कर रहा होता है। हाँ, विमर्शात्मक अनुभव के धरातल पर जहाँ हम एक अवधारणीकरण की प्रक्रिया से गुज़रते हैं वहाँ प्रमाणों को सुविचारित रूप से परिभाषित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने की आवश्यकता होती है। अतएव विमर्शात्मक अनुभव के धरताल पर लक्षणमीमांसा को कथंचित् प्रमाणों को परिभाषित कर उनके स्वरूप-निर्धारण हेतु उपादेय माना जा सकता है, क्योंकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव आदि दोषों से रहित किसी वस्तु का लक्षण ही उसका निजी स्वरूप होता है। यहाँ विचारणीय है कि जब प्रमाण हमें अनुभव के प्राग्विमर्शी स्तर पर किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं तब उनके लक्षण या परिभाषा की ज़रूरत पड़ती है। प्रमाणों के उपलब्ध होने से पूर्व, या कहें उनको उपलब्ध करने के लिए, उनके लक्षण या परिभाषा की जिज्ञासा क्या काकदन्त-परीक्षा के समान व्यर्थ नहीं है? एतदर्थ प्रमाणों की परिभाषा अथवा लक्षण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो प्रमाणों की उपलब्धता का है। अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर हमें प्रमाण उपलब्ध हो जाते हैं तो अपनी सुविधानुसार उनका लक्षण बनाया जा सकता है और उनके समुचित विनियोग से बहुत सारी समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है, परन्तु इस प्रक्रिया में प्रमाणों के उपलब्ध होने के पश्चात् यदि उनकी प्रामाणिकता को लेकर प्रश्न खड़े हो जाँय तो उन्हें सुलझाने में न तो लक्षणमीमांसा से मदद मिलती है और न ही कोई दूसरा प्रमाण उसकी मध्यस्थता कर सकता है। पुनः, अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर प्रमाण जिस रूप में प्रथमतया उपलब्ध होते हैं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्रमेय-निरपेक्ष एवं वस्तुस्थिति से तटस्थ होते हैं। वहां तो उनका स्वरूप प्रतिविषय नियत रूप में ही उपलब्ध होता है। यह बात सही है कि नैयायिक अपनी लक्षणमीमांसा से प्रमाणों के उस सामान्य लक्षण को सामने लाने का प्रयास करते हैं जो वस्तुस्थिति से तटस्थ हो, लेकिन प्रमाणों के ऐसे स्वरूप की अवधारणा क्या अननुप्रयुक्त प्रमाण की अवधारणा नहीं है? कोई भी प्रमाण जब अनुप्रयुक्त रूप में अपनी प्रातिस्विक स्थिति में व्यवहार्य होता है तब वह प्रमेय-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अर्थात् अपने स्वरूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को आत्मसात् करने लगता है। कम से कम दर्शनशास्त्र में तो तत्त्वमीमांसीय प्रभाव से सर्वथा मुक्त प्रमाणों की अवधारणा ही नहीं की जा सकती। लेकिन नैयायिक इस बात को मानने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। उन्हें मनवाना यद्यपि मुश्किल कार्य है तथापि यहां हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। नैयायिकों ने प्रमाणों का और प्रमेयों का भी सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है, लेकिन उनकी परम्परा में ही उन लक्षणों के वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं। इसे वे परिष्कार कहेंगे कि हमने बहुत परिश्रम से लक्षणों का परिष्कार किया है। वैयाकरण जैसे एक मात्रा के लाघव से पुत्रोत्पत्ति के सुख का अनुभव करता है वैसे ही एक लक्षण-परिष्कार भी नैयायिकों के लिए बड़ा ही हर्ष का विषय होता है। परन्तु परिष्कार का इतिहास कुछ और भी कहता है। यदि न्याय-परम्परा में प्रत्यक्ष के लक्षण के परिष्कार को क्रमबद्ध और आन्तरिक विकास की दृष्टि से देखा जाय तो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' से लेकर 'ज्ञानाकरणकंज्ञानं प्रत्यक्षम्' तक के परिष्कार को उत्तरोत्तर तत्त्वमीमांसीय प्रभावों को आत्मसात् करने वाला, उनसे अनुकूलता स्थापित करने वाला परिष्कार कहा जा सकता है। एतत्सम्बन्धी सभी परिष्कारों का मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष के लक्षण में जाति-सत्ता और ईश्वर-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष को समाविष्ट करना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है।[12] पुनः, अनुमान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है जबकि अनुमान को प्रत्यक्ष की अपेक्षा और अधिक तार्किक विशुद्धता में प्रस्तावित किया जाता है। गंगेशोपाध्याय ने **तत्त्वचिन्तामणि** के व्यधिकरण प्रकरण में चतुर्दश प्रकार के व्याप्ति-लक्षणों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त-लक्षण को प्रतिपादित किया है। उन चौदहों लक्षणों में कोई विशेष दोष नहीं है, लेकिन वे सभी प्रधान रूप से इसलिए अव्याप्त कहे गये हैं कि केवलान्वयी को व्याप्त नहीं करते। प्रश्न उठता है कि केवलान्वयी के प्रति इतना मोहग्रस्त होने के पीछे क्या कारण है और क्यों सिद्धान्त लक्षण का चूड़ान्त स्वरूप नैयायिकों को केवलान्वयी व्याप्ति में ही प्राप्त होता है? इसका उत्तर स्पष्ट रूप में यही हो सकता है कि केवलान्वयी व्याप्ति के बिना 'सर्वं अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वम्' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अतएव कहा जा सकता है कि केवलान्वयी तक अनुमान का विस्तार नैयायिकों के वस्तुवाद के लिए एक तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि अद्वैतवेदान्ती केवलान्वयी अनुमान का खण्डन करते हैं, क्योंकि यदि उनके मत में केवलान्वयी अनुमान को वैध मान लिया जाय तो 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्' उससे बाहर हो जाता है। विषय रूपेण आत्मा की अज्ञेयता को सर्वं ज्ञेयं का अपवाद मानना अद्वैतवेदान्तियों की एक तत्त्वमीमांसीय मान्यता है।

यहाँ हमने नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा से सम्बन्धित कुछ उदाहरणों के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है लेकिन भारतीय प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रकरणों की व्याख्या करते हुए यह दिखाया जा सकता है कि किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वीकृत प्रमाण अपनी अवधारणात्मक योजना में एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसा से संरक्षण पाते हैं और उससे निर्देशित भी होते हैं। यह बात अलग है कि कोई इसे प्रकट रूप में स्वीकार करता है। किन्तु दूसरे उसे न स्वीकार करते हुए भी उससे प्रभावित तो रहते ही हैं। यह तथ्य तब उभर कर सामने आता है जब भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं को देखते हुए हम यह प्रश्न उठायें कि कोई विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय किसी प्रमाणमीमांसीय प्रकरण की ऐसी ही व्याख्या क्यों करता है, क्यों नहीं वह अन्यथा करता है? इसके उत्तर में हम यही पाते हैं कि प्रमाणमीमांसीय प्रकरणों की वैकल्पिक व्याख्याओं के माध्यम से दो या दो से अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही दुहराते हुए उसे दृढ़ता प्रदान करते हैं।

अन्त में नैयायिकों की 'लक्षणमीमांसा' और 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाकर हम अपनी बात को समाप्त करना चाहेंगे। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से होती है और प्रमाण लक्षण से सिद्ध होते हैं तो भी इससे प्रमाणों की प्राथमिकता अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं होती, वह भी इस अर्थ में कि तत्त्वमीमांसा ही प्रमाणीमांसा का अनुगमन करती है। अवधेय कि अनुभव के प्राग्विमर्शी धरातल पर जहाँ प्रमाण हमें अपने प्रातिस्विक रूप में प्राप्त होते हैं (जैसाकि भासर्वज्ञ ने स्वीकार किया है) और उनका विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करते हुए हम उनके लक्षण का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्धारण करते हैं वहीं हम तात्त्विक कोटियों को भी अनुभव में अन्तर्निविष्ट रूप से प्राप्त कर उनका भी विश्लेषण एवं सामान्यीकरण करते हुए उनके लक्षण निर्धारित कर सकते हैं। इस तरह कोई तात्त्विक कोटियों को प्रथमतया निर्धारित कर प्रमाणों को ही उनकी अनुरूपता में निरूपित कर सकता है। बौद्ध नैयायिकों ने अपनी प्रमाणमीमांसा का ढाँचा इसी प्रारूप में विकसित किया है। अतः यह मानते हुए कि हमें प्रमेयों का ज्ञान किसी न किसी प्रमाण से ही होता है, प्रमाण-प्रमेय के अवधारणीकरण में प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार की व्याख्या की जा सकती है। प्रमाणों की संज्ञानात्मक और साधनात्मक प्राथमिकता का कम से कम भारतीय दर्शन में यही अर्थ नहीं है कि प्रमाणमीमांसा आधारभूत रूप से तत्त्वमीमांसा की पूर्वगामी है।

दर्शन विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. युक्तिदीपिकाकार ने सांख्य-सम्मत 'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' की अवधारणात्मक योजना में 'सिद्धि' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए तीन विकल्पों को उठाया है। पहला यह कि 'प्रमेस्यैव सिद्धिः' अर्थात् प्रमेय की ही सिद्धि होती है। दूसरा यह कि 'प्रमाणेभ्य एव' अर्थात् प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है। तीसरा यह कि 'सिद्धिरेव', अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होगी ही। इन तीनों विकल्पों में युक्तिदीपिकाकार ने 'प्रमाणेभ्य एव' को ही सांख्य दृष्टि के लिए संगत बताया है। परन्तु विचारणीय है कि सांख्य-परम्परा में सांसिद्धिक ज्ञान को तथा आर्ष ज्ञान को चित्तवृत्ति रूप प्रमाण की कोटि में रखा जा सकता है या नहीं? वाचस्पति मिश्र ने 'एतच्चलौकिक प्रमाणाभिप्रायम्' कहते हुए 'प्रमाणेभ्य एव' को लौकिक दृष्टि की सीमा में स्वीकार करते हुए आर्ष एवं सांसिद्धिक ज्ञान को उससे बाहर ही रखा है। ऐसी स्थिति में लौकिक प्रमाणों का भी अपनी आधारभूत संरचना में आर्ष एवं सांसिद्धिक प्रकार के अलौकिक ज्ञानों से संगत होना आवश्यक हो जाता है। यह वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि लौकिक प्रमाणों पर अलौकिक ज्ञान के माध्यम से पड़ने वाला तत्त्वमीमांसीय अधिभार ही है। (विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य – लेखक का "सांख्य सम्मत 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' की समीक्षा' नामक आलेख – उन्मीलन, वर्ष 17, अंक 1 जनवरी, 2003
2. इसे साधारण दृष्टिकोण इसलिए कहा गया है कि यह निर्धारण 'काल' को प्रमाण और प्रमेय की उपाधि बनाकर किया जाता है। प्रमाण-प्रमेय की कालोपाधिक पूर्ववर्तिता अथवा अनुवर्तिता प्रमाण-प्रमेय के गौण-प्रधान भाव की निर्धारक नहीं हो सकती।
3. भारतीय परम्परा में युक्तिपुरस्सर प्रमाणशास्त्र के विकास को पांच चरणों में विभाजित किया जा सकता है। इसका प्रारम्भिक रूप उपनिषदों के ब्रह्मोदय, महाभारत के जनक अष्टावक्र और जनक-सुलभा संवाद एवं मिलिन्द पन्नहो की संवाद विधियों में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थाभिमुख रूप वादविधि के रूप में कौटिल्य के अर्थशास्त्र और चरक संहिता इत्यादि में प्राप्त तन्त्रयुक्तियों एवं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्धवाक्यों की उद्दिष्ट विधि में प्राप्त होता है। इसका व्यवस्थित रूप न्यायसूत्र एवं न्यायभाष्य इत्यादि में-आन्वीक्षिकी विद्या अथवा तत्त्वनिर्णय हेत्वर्थक न्यायशास्त्र के रूप में प्राप्त होता है। इसके विकासाभिमुख रूप को बौद्ध एवं जैन परम्परा के एतद्विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इसका विकसित रूप हमें दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं न्याय-परम्परा के उत्तरकालिक एवं नव्यन्याय के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। युक्तिपुरस्सर प्रमाणशास्त्र के विकास में व्यवस्थाभिमुख सोपान तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके सामने किसी तत्त्वमीमांसा के संरक्षण का उद्दिष्ट लक्ष्य सामने रहा हो लेकिन व्यवस्थित, विकासाभिमुख और फिर विकसित अवस्थापर्यन्त भारतीय प्रमाणशास्त्र का विकास किसी न किसी तत्त्वमीमांसा के उद्दिष्ट संरक्षण में ही हुआ है।

4. न्याय-बिन्दु टीका, 2/48

5. न्यायवार्त्तिक, पृ. 14

6. द्रष्टव्य वी. भारद्वाज – फोर्म एंड वैलिडिटी इन इण्डियन लॉजिक।

7. नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन पर पहला विध्वंसात्मक प्रहार नागार्जुन के द्वारा हुआ था जिसे विग्रहव्यावर्तनी एवं वैदल्यसूत्र में देखा जा सकता है और संशोधनात्मक प्रहार से हमारा तात्पर्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति इत्यादि बौद्ध नैयायिकों की समीक्षा से है।

8. प्रामाण्य ज्ञान पर आधारित प्रवृत्ति-साफल्य और प्रवृत्ति-साफल्य पर आधारित प्रामाण्य एक अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग है जिसका समाधान उद्योतकर ने यह कह कर किया है कि अनादि संसार में दोनों इसी क्रम से एक दूसरे को आगे बढ़ाते हैं।

9. कुछ लोगों का यह मानना है कि नव्य न्याय की ओर बढ़ते हुए न्याय दर्शन अपने प्रमेय तन्त्रात्मक अभिनिवेश के प्रति कट्टर नहीं रहा है–विश्वनाथ पंचानन कहते हैं कि "एते च पदार्थाः वैशेपिक नये प्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविसिद्धा" और न्यायलीलावतीकार ने भी ऐसे ही नैयायिकों को "अनियतपदार्थवादिनः" कहा है। पुनः, न्यायशास्त्र को 'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्' कहना भी उसे एक विचारपद्धति के रूप में ही प्रस्तुत करना है। परन्तु ऐसे सभी वक्तव्यों को न्याय दर्शन की मुख्य धारा से एकदेशीय रूप में ही जोड़ा जा सकता है।

10. भीमाचार्य, न्यायकोश, पृ. 697

11. पदार्थ का लक्षण करने में लक्षण का प्रयोजन केवल शब्द-व्यवहार है जबकि पदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी के लक्षण में व्यावृत्ति और शब्द-व्यवहार नामक दोनों प्रयोजन उद्दिष्ट होते हैं। पदार्थ लक्षण के साथ व्यावृत्ति रूप प्रयोजन के उद्दिष्ट नहीं होने का कारण यह है कि पदार्थ केवलान्वयी धर्म है।

12. प्रत्यक्ष के लक्षणों में परिष्कार के अतिरिक्त नैयायिकों ने प्रमा के लक्षण का भी निर्धारण अपनी तात्त्विक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए किया है। इस सम्बन्ध में उदयन द्वारा न्याय-कुसुमाञ्जली में ईश्वर को ध्यान में रखकर प्रमा के लक्षण में 'अबाधितत्त्व' का खण्डन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शन की समसामयिक अन्वीक्षा : कविराज जी का दृष्टिकोण*

नवजीवन रस्तोगी

तन्त्रालोक पर अपनी महाप्राण टीका विवेक का समापन करते हुए जयरथ ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अधिकारी विद्वान का आदर्श निम्नलिखित शब्दों में उपस्थित किया है–

योऽधीती निखिलागमेषु पदव्विद् यो योगशास्त्रश्रमी
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन्स्यादधिकारवान् कलकलप्रायं परेषां वचः॥[1]

मुझे लगता है कि इस मानक का भारतीय दर्शन के विस्तृततर फलक में सार्थक उपयोग किया जा सकता है और हम दोनों ही क्षेत्रों में पाएंगे कि कविराज जी इस मानक के मूर्त्तिमान प्रतिबिम्ब थे। भारतीय दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में - गहराई और प्रसार दोनों में–गहरी डुबकी लगाकर उसमें अनेक मौलिक सम्भावनाओं का अनुसंधान कर सकना उनकी जैसी महाप्राण तलस्पर्शिनी मेधा के ही बूते की बात थी।

दर्शन और साधना के क्षेत्र सामान्यतः भिन्न समझे जाते हैं। परम्परागत, मुख्यतः पश्चिमी, अवधारणा में दर्शन का सम्बन्ध अनिवार्यतः बुद्धि, हेतु या तर्क से जोड़ा गया है। प्रत्येक मन्तव्य या कथन के पीछे हेतु देना आवश्यक है। भारत में भी एक युक्तिपुष्ट पूर्वपक्ष या प्रतिपक्ष-खण्डन-पूर्वक सिद्धान्तपक्ष की स्थापना की गयी है। सच पूछा जाए तो भारतीय दर्शन के विकास की यह अन्यतम प्रक्रिया रही है। बौद्धों और नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों, अद्वैतवादियों और द्वैतवादियों के पारस्पिरक शास्त्रार्थ, खण्डन-मण्डन की परम्पराएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। परन्तु दूसरी ओर यह भी इतना ही सच है कि भारतीय साधना को इस अर्थ में दर्शन से समीकृत करना कठिन होगा, क्योंकि साधना अपनी पारम्परिक अवधारणा में युक्ति, बुद्धि या तर्क से उत्तरण या व्यतिरेक की स्थिति है। अतः साधना और दर्शन–भारतीय संस्कृति की इन दो अन्तर्धाराओं–में आपातिक विरोध जान पड़ता है। परन्तु कविराज जी इस 'आपातिक' शब्द को रेखांकित करते हैं। उनकी दृष्टि में यह विरोध आधारभूत नहीं है। अपने प्रसिद्ध लेख 'शाक्त फिलॉसफी' में वे कहते हैं कि युक्ति का काम है अनुभूति का विश्लेषण और व्यवस्था –या दूसरे शब्दों में उसकी अर्थवत्ता और मूल्यवत्ता– का निर्धारण। इस अर्थ में युक्ति की भूमिका पूरक है, विरोधी नहीं।[2]

अपने दूसरे ''द व्यू प्वाँइन्ट ऑफ न्याय-वैशेषिक फिलॉसफी'' में उन्होंने इस समस्या पर ज्यादा गहराई से विचार किया है।[3] कविराज जी की मान्यता है कि भारत के सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दार्शनिक सम्प्रदायों का मूल प्राचीन भारत के धार्मिक विचारों में है। उन्हें आशंका थी कि कहीं कोई यह न समझ बैठे कि वे धर्म और दर्शन को मिश्रित कर रहे हैं, अतः न्याय दर्शन के प्रयोजन, पद्धति और दर्शन के सामान्य अर्थ के बारे में भूमिका के रूप में उन्होंने अपने विचार प्रकट करना आवश्यक समझा था।[4]

सर्वप्रथम वे हेतु और श्रुति या शब्द के अन्तर की ओर ध्यान दिलाते हैं। उनकी दृष्टि में भारत में दर्शन का, विशेषतः उसके प्राचीनतर और सत्यतर रूप में, लक्ष्य व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि था। अंतः यहां मात्र तर्कणा या चिन्तन को वन्ध्य माना गया। युक्ति का काम न तो रचनात्मक है और न प्रातिभ, इसका काम तथ्यों की व्याख्या मात्र है। अन्ततः इसका अन्तिम आश्रय साक्षात् प्रतीति को ही मानना पड़ता है। चूँकि सामान्य मानवीय अनुभव की परिधि सीमित है और त्रुटियों की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता अतः अनुभव, जिस पर हमारी युक्ति आश्रित है, को असीमित और मानवीय दोषों से मुक्त मानना होगा। यही असीमित अनुभव श्रुतियों में निहित है। इस श्रुति–प्रातिभ शाब्द-ज्ञान के आलोक के बिना युक्ति सत्य का कभी भी अनुसंधान न कर सकेगी। यदि सत्य का आविष्कार दर्शन का लक्ष्य है और दर्शन का अर्थ केवल बुद्धि-क्षेत्र का व्यापार है तो यह सारा उद्यम तब तक आत्मघाती सिद्ध होगा जब तक युक्ति को श्रुति का, आगम का, पार्षद नहीं बना दिया जाता। मध्ययुगीन यूरोप की मान्यता 'विश्वास करो और तब जानो' को वे सामान्य भारतीय आदर्श 'श्रद्धावानूल्लभते ज्ञानम्' में प्रतिध्वनित पाते हैं।

तब युक्ति की सही भूमिका क्या होगी? कविराज वही प्रश्न उठाते हैं जो **न्यायवार्तिक** के रचयिता उद्योतकर ने और **न्यायबिन्दु** के टीकाकार धर्मोत्तर ने उठाया था। उनका समाधान भी प्रायः वही है। उनका कहना है कि यद्यपि शब्द या श्रुति सत्य ज्ञान का अन्तिम उद्गम है तथापि हमारी वर्तमान मनःस्थिति में इन शब्दोद्भासित तथ्यों को बिना कोई प्रश्न या सन्देह किये स्वीकार करना कठिन होता है। जैसे ही हमारे मन में यह प्रत्यय जागता है कि ये तथ्य सम्भाव्य हैं और नितान्त असंगत नहीं हैं, युक्ति का व्यापार समाप्त हो जाता है।[5] इस प्रकार युक्ति का कार्य किसी भी वाक्य या कथन के सम्बन्ध में 'सम्भावना-बुद्धि' का जागना है न कि उसकी 'निश्चितता' का। यौक्तिक व्यापार से वस्तु की पारमार्थिकता या निश्चितता का निर्धारण सम्भव नहीं है (तर्कानामप्रतिष्ठानात्)। कारण यह है कि सारी दक्षता या सावधानी के बावजूद सभी बौद्धिक व्यापारों में किसी न किसी प्रकार का आत्म-विरोध अवश्य रहता है। यही कारण है कि कैसी भी प्रस्थापना क्यों न हो उसका साधक हेतु ढूँढना कठिन नहीं होता। इसलिए सत्य की असंदिग्धता या पारमार्थिकता की सिद्धि के लिए युक्ति-प्रक्रियाओं का निर्विकल्पक वैयक्तिक उपलब्धि की प्रक्रियाओं –समाधि/मनन और निदिध्यासन– से उपवृंहण करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यही योग है–आध्यात्मिक अनुशासन की वह प्रक्रिया जो मानसिक व्यापार को निलम्बित कर सत्य का साक्षात्कार या प्रातिभ ग्रहण कराती है। इसलिए कविराज जी का, उन्हीं के शब्दों में, निष्कर्ष है– अपने सीमित अर्थ में दर्शन मानव-जीवन के अभिसंस्करण की दिशा में एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चरण है। इसे फल-प्रद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि यह प्रातिभ साक्षात्कार द्वारा प्रदत्त तथ्यों की अधीनता में रहे। अन्यथा इसके दिग्भ्रांत होने की संभावना बनी रहती है।

यदि ऐसा है तो यह समझना दुष्कर नहीं रहता कि दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय, जो देखने में अक्सर परस्पर विरोधी लगते हैं, कैसे अस्तित्व में आते हैं। परम सत्य, जो अतिमानस प्रातिभ ज्ञान के आलोक में भासित होता है, वस्तुत: एक एवं अविभाज्य है, परन्तु वही विभिन्न साधकों की रुचि और सामर्थ्यभेद-जन्य भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। जब तक व्यष्टीभूत चेतना बनी रहती है—जब तक ज्ञान के साधन के रूप में 'मन' का बहिष्कार नहीं होता—तब तक निरपेक्ष अखण्ड सत्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। मानवीय बुद्धि की इयत्ता सापेक्ष या खण्ड सत्य की प्राप्ति में चुक जाती है। यही खण्ड या सापेक्ष सत्य, जो कि अखण्ड सत्य के अंश हैं, विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के तात्कालिक प्राप्य बनकर उभरते हैं। आत्म-प्राप्ति की खोज में साधक की ऊर्ध्वारोही यात्रा की ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जब इन्हें एकत्रित कर परिणत अवयवी/पूर्ण के सन्दर्भ में उनका अध्ययन किया जाएगा तो समन्विति का एक ऐसा उदात्त चित्र उन्मीलित होगा जो मानवता के हित में गहरी अर्थवत्ता से मण्डित होगा। यद्यपि अभी यह चित्र ढँका-मुँदा और परोक्ष है परन्तु यह वह भव्यतम सम्भावना है जो हमारे मन की पहुँच की परिधि में है।

एक बात ध्यान देने की है। सम्प्रदायों का यह समन्वय या एकत्रीकरण इसलिए सम्भव है क्योंकि सबके मूल में एक वास्तविक एकता/अद्वैत है। इसका हेतु है सभी सम्प्रदायों की श्रुति में असंदिग्ध निष्ठा। यह केवल श्रुति के व्याख्यान का उनका अपना ढंग है जिसके कारण सम्प्रदाय अलग हो जाते हैं। इस ढंग का निर्धारण उन व्यक्तियों की सामर्थ्य से होता है जिनके लिए वह अभिप्रेत है। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

पारिभाषिक तौर पर जिसे अधिकार-भेद कहा जाता है उसके पीछे यही रहस्य है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य के प्रत्येक आकार को ग्रहण करने में सक्षम नहीं है। बोध-तन्त्र धीरे-धीरे विकसित होता है। विकास की इस प्रक्रिया में वे सत्य, जो कभी अबोधगम्य और अस्पष्ट लगे थे, अर्थ-गाम्भीर्य धारण करने और ग्राह्य होने लगते हैं। इस प्रकार एक युग की भ्रांति दूसरे युग की बुद्धिमत्ता बन जाती है। यही बात देशों और व्यक्तियों के साथ होती है। ऐसी मान्यता है कि कर्म—पिछले जन्मों की क्रियाओं से इकट्ठी की गयी और निम्नतर व्यक्तित्व की विधायक वासनाएँ और वृत्तियाँ—मनुष्य के सत्य-बोध में बाधक हैं। जैसे ही ये बाधाएँ दूर हो जाती हैं—चाहे मानसिक जीवन पर अपनी सहज प्रतिक्रिया के द्वारा प्रायोजित होकर या ज्ञान अथवा योग के द्वारा नष्ट की जाकर— आवृत सत्य एकबारगी ही उद्भासित हो उठते हैं। शास्त्रकार यां गुरु का काम है मानसिक ग्रहणशीलता के इस मात्रा-भेद या तारतम्य को पकड़ना और तदनुसार प्रवर्तन करना।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों में एक वास्तविक क्रम है जो थोड़े से गहन अध्ययन से पहचाना जा सकता है। जिस समन्वयिनी चेतना में इस प्रकार का क्रम अपने आप आविर्भूत होता है उसकी सत्ता भारतीय दर्शन में प्रारम्भ से ही स्वीकार की गयी है। महिम्नस्तोत्र, संक्षेपशारीरक, आत्मतत्त्वविवेक आदि में इस दिशा में प्रयत्न किये गए हैं। विज्ञानभिक्षु और नीलकण्ठ अपने-अपने ढंग से दर्शनों के पारस्परिक और पूरक सम्बन्धों की अनेक स्थलों पर चर्चा करते हैं। इस सबका प्रयोजन सिर्फ यह रेखांकित करना है कि भारतीय चिन्तन की विभिन्नताओं और दार्शनिक क्रियाओं में एक वास्तविक अन्विति है। यह अन्विति केवल प्रयोजनगत ही नहीं है बल्कि पद्धतिगत और प्रक्रियागत भी है।[6]

इस प्रसंग में प्रो. कालिदास भट्टाचार्य के कतिपय मन्तव्यों की चर्चा अप्रासंगिक न होगी जो उन्होंने कविराज की दार्शनिक दृष्टि के बारे में कहे हैं।[7]

उनके अनुसार दर्शन, जिसमें तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा भी अन्तर्भुक्त हैं, का विकास दो नितान्त भिन्न रूपों में हुआ है। पहले रूप में यह एक बौद्धिक विवरण मात्र है—जो कुछ भी सत् है उसके स्वरूप और व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों और सम्भावना-वाक्यों का व्यवस्थित रूप बहुत कुछ वैसा ही है जैसा हम विज्ञान में देखते हैं। यह दृष्टि वस्तुतः अनुभववादियों की है।

इसके अलावा एक दूसरे प्रकार का दर्शन भी है—भारत में और पश्चिम में, दोनों जगह। इसमें भी ऐसे प्रकथन होते हैं जिनका सम्बन्ध सतत अवधान से उपलब्ध मानवीय अनुभूतियों से है। ये प्रकथन भी यथासम्भव सुसम्बद्ध और बोधगम्य होते हैं। इस प्ररूप में यौक्तिक विश्लेषण, परिभाषण, निगमन आदि के रूप में बुद्धि का उपयोग होता है, परन्तु वह बौद्धिक व्यायाम या जोड़-गाँठ का साधन नहीं बनाई जाती। इस प्ररूप को हम अतीन्द्रिय या अतिक्रामी (ट्रान्सेन्डेन्टल) कहते हैं – जो व्यवहारोत्तीर्ण जगत् के हमारे अनुभवों का यथाशक्य क्रमबद्ध आलेख होती है। इस जगत् का अनुभव ऐन्द्रिय नहीं होता, यद्यपि उसकी प्रतीति अव्यवहित, साक्षात् होती है और उससे उत्पन्न ज्ञान ऐन्द्रिय बोध जितना ही आश्वासनकारी होता है। सामान्यतः इसे आत्मिक साक्षात्कार, प्रतिभान या अपरोक्षानुभूति कहते हैं और पारिभाषिक तौर पर यौक्तिक प्रतिभान, अतीन्द्रिय विमर्श, प्राक्सिद्ध पूर्वाशंसन या अस्तित्ववादी का वस्तुबोध कहते हैं।[8] विषयात्मक अनुभव के क्षेत्र में, अर्थात् व्यवहार-जगत् के विषयों के क्षेत्र में, बुद्धि का उपयोग न्यूनातिन्यून क्रमबद्धता के लिए भी अपरिहार्य है। परन्तु पारमार्थिक अनुभवों के क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग उतना ही नहीं है। यहाँ तक कि उसका परित्याग भी किया जा सकता है। इसका कारण है कि पारमार्थिक जगत् में हमारा अनुभव प्रातिभ विमर्श द्वारा होता है, जो जितना आत्म-सचेतन होता है उतना ही साक्षात् होता है। आत्म-चेतना या आत्मविमर्श के क्रमिक गम्भीरीकरण द्वारा प्रातिभबोध स्फुटतर होता जाता है, जिसमें उजागर होती हैं अनुभूत विषय की प्रागनुभविक विशेषताएँ। अध्यात्मवादी इसे ही प्रागनुभविक/आदिसिद्ध पूर्वाशंसन (ए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रायराई एन्टीसिपेशन) कहते हैं–एकल व्यापार में अनन्त विशेषों की समग्रता का पूर्वसम्भावन। अध्यात्मवादियों की सामान्य धारणा है कि पदार्थ और उनके अनुभव परस्पर अभिन्न हैं, अर्थात् वे चेतना से पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वहाँ विषय और चेतना का एकीभाव है। दूसरे शब्दों में, आपाततः भिन्न होते हुए भी वे अभिन्न हैं। यह अभेद वस्तुतः भेदाभेद सम्बन्ध के द्वारा भी व्याख्येय नहीं है, क्योंकि वह आदिसिद्ध स्वसंवेदन रूप है। दूसरे शब्दों में, वह अनुभव शुद्ध अहंता या विषयिता–अर्थात् अनुत्तर अनुभविता–का रूप मात्र है।

गोपीनाथ कविराज का सारा चिन्तन दर्शन की इस दूसरी विधा के साँचे में ढलकर चला है।

इससे सहज निष्कर्ष निकलता है कि कविराज की दृष्टि से भारतीय दर्शन जीवन और अस्तित्व के केन्द्रीय अर्थ के ज्ञान की अपेक्षा उसकी उपलब्धि के प्रति समर्पित रहा है और इसलिए उसकी प्रकृति साधनामूलक अधिक रही है। भारतीय दर्शन एक है और वे सारी दार्शनिक परम्पराओं और सम्प्रदायों में उसी केन्द्रीय अर्थ की अन्विति मात्रा-भेद और अभिव्यक्ति-भेद से पाते हैं।[9] यह दृष्टि लगता है उन्हें भारतीय परम्परा से सामान्यतः और त्रिक परम्परा से विशेषतः अव्याहत प्राप्त हुई है। क्षेमराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **प्रत्यभिज्ञाहृदयं** में सारे दर्शनों में पारस्पिरक मौलिक भेद न मानकर सोपानगत या अवस्थागत भेद माना है और उन्हें परम तत्त्व के भूमिकाभेद के रूप में ग्रहण किया है–'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः' (सूत्र 8)। यह समग्रतावादी दृष्टि उनके चिन्तन में तीन प्रकार से कार्यरत हुई है। एक ओर यह साधना और दर्शन का पारस्पर्य और समानन्तर्य स्थापित करती है, दूसरी ओर सम्बद्ध दर्शन का व्यापकतर सन्दर्भ में तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान करती है।[10] और तीसरी ओर विशिष्ट दर्शनों के अध्ययन-प्रसंग से ऐसे निष्कर्षों का निगमन करती है जो उस दर्शन की प्रकृति से आपाततः असमंजस लगने पर भी भारतीय दर्शन की मौलिक प्रकृति और उस दर्शन की अन्तरंग प्रातिस्विकता को पुष्ट करते हैं। पहला अंश तो लगभग उनके सभी लेखों में है। दूसरे अंश के उदाहरण के लिए गौड़ीय अचिन्त्य भेदाभेद, सूफी सम्प्रदाय और ईसाई रहस्यवाद के सन्दर्भ में प्रत्यभिज्ञादर्शन का विचार; वज्रयान और सहजयान के परिप्रेक्ष्य में शाक्तदर्शन का विचार तथा शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत, ईश्वराद्वैत के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्माद्वैत का विचार लिया जा सकता है। इस पद्धति का सहज लाभ यह हुआ है कि सिद्धान्त-बोध के प्रसंग में अब तक अबूझ अनेक पहेलियाँ उजागर हो उठी हैं। तीसरे अंश के उदाहरण के रूप में वेदान्त की भाँति सांख्य-योग को भी विशुद्ध प्रकृति के स्तर पर अभिन्ननिमित्तोपादानवाद का पोषक मानना,[11] योग में सबको सर्वात्मक और फलतः सर्वानुस्यूत मानना,[12] विवेकज्ञान और विवेकजज्ञान दोनों की महत्ता पर समान बल देना, और सत्त्व और पुरुष के शुद्धिसाम्य में कैवल्य को प्रतिष्ठित मानना (सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्–यो.सू. 3.55) आदि को लिया जा सकता है। कविराज जी की स्पष्ट मान्यता है कि किसी दार्शनिक व्यवस्था को सम्यक् रूप से समझने के लिए न केवल उसे उसके सही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिप्रेक्ष्य में रखना आवश्यक होता है बल्कि उसे विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न सम्बन्धों में रखकर देखना भी आवश्यक होता है।

परन्तु यह बात याद रखने की है कि कविराज की इस उदार और समग्रताप्रवण दृष्टि का स्रोत काश्मीर शिवाद्वयवाद के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही है। सारे दार्शनिक सम्प्रदाय इसी एक दार्शनिक लता के पल्लवभूत हैं। कालिदास भट्टाचार्य ने इसी सत्य को इन शब्दों में उजागर किया है–गोपीनाथ कविराज ने, जो कि मुख्यतः शैव हैं, विशेषतः अद्वैतवादी प्रकार के, अपने शैव सिद्धान्त को इस प्रकार विकसित किया है कि उसमें इधर-उधर पदावली का थोड़ा परिवर्तन कर देने पर उसे सरलता से शैव द्वैतवाद, तंत्र और योग के विभिन्न रूपों तथा महायान बौद्ध मत एवं वैष्णव मत में (और बहुत सुंदर रूप से उसके गौडीय संप्रदाय में), यहां तक कि शांकर अद्वैतवाद में भी, परिवर्तित किया जा सकता है।

वस्तुतः कविराज जी की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा न्याय आदि की भाँति एक सिद्धान्त विशेष नहीं है[13] बल्कि एक विशिष्ट चिन्तन-सरणि है। कविराज जी भातरीय दर्शन के सम्प्रदायों को दो भागों में बाँटते हैं। एक वे जो किसी सम्प्रदायविशेष के वाचक हैं और दूसरे वे जो चिन्तन की पद्धति या प्रकार के। यह बात ध्यान देने की है कि कविराज जी काश्मीर शिवाद्वयवाद को चिन्तन-प्रक्रिया का एक प्रकार मानते हैं जिसकी आन्तरिक संरचना में तमाम अवान्तर सम्प्रदायों की विनियोजना सम्भव है। उनका विचार है कि न्यायवैशेषिक आदि की भाँति प्रत्यभिज्ञा शब्द एक सिद्धान्त विशेष का वाचक नहीं है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द ऐतिहासिक रूप से वैसे ही सम्प्रदाय हैं जैसे क्रम, कुल, त्रिक और त्रिपुरा। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से–साधनागत, प्रक्रियागत विस्तारों को छोड़कर–उनका मौलिक तान्त्रिक रूप एक है और उस स्वरूप को इन दो शब्दों से ज्यादा कोई प्रतिनिधि रूप में नहीं प्रकट कर सकता। प्रत्यभिज्ञा जहाँ अद्वयतत्त्व की उपलब्धि में साधनात्मक और प्रमाणात्मक हथियार है वहाँ स्पन्द सत्ता की पारमार्थिक अद्वयता[14] की सिद्धि का साधन। यही कारण है कि क्रम, कुल आदि दर्शनों के या साधना-पद्धतियों के विचारों पर प्रभूत चर्चा करने के बावजूद उन्हें स्वतन्त्र दर्शन का महत्त्व कविराज जी ने नहीं दिया है। इसी तरह से साधना की दो स्वतन्त्र पद्धतियाँ तन्त्र और कुल मानने पर भी उन्हें त्रिक में ही विश्रान्त माना है। सम्भवतः यह दृष्टि उन्हें अभिनवगुप्त से प्राप्त हुई है जो यह मानते हैं कि सारे उपाय–जो विभिन्न प्रस्थानों को बताने की एक पारम्परिक पद्धति है–अनुपाय, अर्थात् प्रत्यभिज्ञोपाय, में पर्यवसित होते हैं।

यह बात विचित्र है कि कविराज जी ने प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि यह सिद्धान्तविशेष न होकर दर्शन की मौलिक दृष्टि है। यह बात जानना रुचिकर होगा कि स्वयं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है, अपितु सारे प्रमाणों में और सारे प्रमा-व्यापार में प्रत्यभिज्ञा की अनुस्यूति देखी गई है। शांकर अद्वैत और शिवाद्वयवाद की तुलना करते हुए कविराज जी ने जिस पदावली का प्रयोग किया है–"शंकर का अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संन्यासमूलक है और काश्मीराचार्यों का ग्रहणमूलक किंवा अनुवृत्तिमूलक''[15]– पर उसका आधार प्रत्यभिज्ञा की धारणा में ही छिपा है। इस ज्ञान को विवेकमूलक और काश्मीरियों की दृष्टि को सामरस्यमूला कह सकते हैं। ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र तक इसका विस्तार किया जा सकता है, जहाँ इसका प्रभाव ज्ञान की क्रमशः अध्यवसान-मूला (इतरनिषेधपूर्वक निश्चयन) और अनुसंधान-मूला (इतरग्रहणपूर्वक ज्ञान) प्रक्रियाओं में मिलता है।[16] कहना न होगा कि प्रत्यभिज्ञा अनुसंधानात्मक ज्ञान है। अपूर्ण ज्ञान के जिस प्रत्यय की यहाँ उद्भावना की गयी है उसका पूर्णता में परिणमन इसी प्रत्यभिज्ञा द्वारा होता है। इस सन्दर्भ में यह कहना अहेतुक न होगा कि अद्वैत भक्ति, जिसका विस्तृत विवेचन कविराज जी ने किया है, का भी सम्पूर्ण आग्रह भक्त और भगवान् के भेद में नहीं है बल्कि उनके अनिवार्य अभेद में है। उनका विश्वास मनुष्य की आन्तरिक भगवत्ता में है। इसलिए भक्त का भगवान में वास्तविक रूपान्तरण होता है।[17] भक्ति की इस धारणा का उद्भव अणु और भूमा या पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता की धारणा से होता है।[18] जीव और शिव एक ही हैं। योगी और परमशिव के समीकरण के द्वारा इसी बात को रेखांकित किया गया है। इस समीकरण का उपयोग इस बात को बताने में हुआ है कि ज्ञान और योग का चरम स्थिति में सामंजस्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में एकरूपता है–अर्थगत भेद के बावजूद तत्त्वगत ऐक्य है। जिनमें साँसिद्धिक स्वप्रत्ययात्मक ज्ञान का उदय होता है ऐसे योगी या ऐसे ज्ञानी दोनों ही पर्याय हैं–पूर्णत्व लाभ करके भी निष्क्रिय नहीं रहते। क्रिया उनका सहज धर्म बन जाता है। अपने में कृतकृत्य होने पर भी लोकानुग्रह या लोकसंग्रह उनका कर्त्तव्य बन जाता है। ज्ञान और क्रिया का यह समन्वय लोकस्थिति में भी अव्याहत रहता है।[19]

मुक्ति की जो धारणा यहाँ की गयी है वह शिव-शक्ति-सामरस्य के मूल प्रत्यय का विस्तारमात्र है। पूर्णता का अर्थ है भोग और मोक्ष की साम्यावस्था। भोक्ता और भोग्य के एकीभाव को 'भोग' भी कहते हैं और 'मोक्ष' भी। वस्तुतः विश्वोत्तीर्ण को अपनी विश्वात्मकता की–'सर्वो ममायं विभवः' अनुभूति होती है। यही भोग है।

पूर्ण सत् के सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति को भक्ति में मानकर और भक्ति के रसत्व को सामने लाकर कविराज जी ने इस बात का भी मार्ग प्रशस्त किया है कि किस प्रकार से काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं में एक समर्थ सौन्दर्यशास्त्र के बीज छिपे हैं। एक प्रकार से अभनवगुप्त का रसशास्त्र शिवाद्वयवाद की प्रयोगात्मक तत्त्वमीमांसा है। इसके अनुसार भोक्ता, भोग्य और भोग वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं-रसस्फूर्ति के समय इनका पृथग्भाव नहीं रहता है। यदि रहे तो रस का स्फुरण नहीं हो सकता–'भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।'

इसलिए अभिनवगुप्त का सारभूत सिद्धान्त यह है कि पूर्ण निरन्तर अपने आप में ही आस्वादन कर रहा है। इसका फलितार्थ यह है कि भक्ति-योग-भोग रस के उपेय भगवान-परमशिव-पारमार्थिक अद्वयतत्त्व ही एक नहीं है बल्कि उनके उपाय भक्ति-योग-ज्ञान-क्रिया (भोग)-रस भी परस्पर एक हैं। परम सत् केवल पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है बल्कि वह चरम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल्य भी है। सामरस्य का यह भी एक अर्थ है–परम तत्त्व में चरम सत् और चरम मूल्य का एकीकरण। व्यष्टि में समष्टि की अनुस्यूति का अर्थ है सारे विकास के केन्द्र में मनुष्य को मूल रूप से प्रतिष्ठित करना, क्योंकि व्यक्ति और विराट् दिव्यता में एक हैं। ''जो 'प्रदत्त' है वह त्याज्य या तुच्छ है और जो 'उत्तीर्ण' या 'परे' है वही एक मात्र काम्य या प्राप्य है'', ऐसा नहीं। पूर्णता का अर्थ है 'प्रदत्त' और 'प्राप्तव्य' दोनों की दिव्यता। अर्थात् इस जीवन में भी मूल्यवत्ता और उपादेयता का आसूत्रण। यही शैवागम की 'विश्व दृष्टि' है। कविराज जी कहते हैं–'माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं वरन् उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकास रूप में अनुभव करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव है।'[20] इसका अपरिहार्य परिणाम है जीवन्मुक्ति के अनन्तर भी व्यक्ति की लोकानुग्रह में अनायास प्रवृत्ति।[21] कविराज जी का जो अपना सिद्धान्त है, जिसे उन्होंने अखण्ड महायोग कहा है, जिसका लक्ष्य है समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण, एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, काश्मीर शिवाद्वयवाद से ही उद्गत परन्तु उससे आगे की धारा है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि योगी पूर्णत्व लाभ करके कभी भी निष्क्रिय नहीं बैठता। उसका स्वभावसिद्ध कर्म सदा चलता ही रहता है। इसीलिए पूर्णता-प्राप्ति के अनन्तर भी पूर्ण को पूर्णतर, पूर्णतम आदि के क्रम में अनन्त अवस्थाओं के द्वारा उत्कृष्ट करते जाना, यही योगी के कर्म की स्वाभाविक परिणित है।

आनंद मंगल, बी 202/203
स्टर्लिंग अपार्टमेंट्स, विश्वविद्यालय मार्ग,
लखनऊ-226007

सन्दर्भ

* प्रस्तुत लेख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्पन्न महामहोपाध्याय गोपनीय कविराज शताब्दी समारोह के समापन कार्यक्रम (सितम्बर 3-7, 1987) में पढ़ा गया था। कतिपय साधारण परिमार्जनों के साथ यह लेख अविकल प्रकाशित हो रहा है। इस लेख की विशेष पृष्ठभूमि रही है। मार्च 1986 में हम सब जयपुर में कविराज जन्म शताब्दी समारोह की चतुर्वार्षिक श्रृंखला के तीसरे चरण में इकट्ठा हुए थे। उस समय अनेक सम्बन्धित प्रश्न उभरे थे। सबसे मौलिक प्रश्न था कि कविराज जी का प्रातिस्विक दार्शनिक रूप क्या है? दूसरे शब्दों में, दर्शन और साधना को परस्पर अलग कर तथा दर्शन की पारम्परिक अवधारणा का आश्रय लेकर क्या कविराज जी को दार्शनिक कहा जा सकता है? यदि नहीं तो कविराज जी की अपनी दृष्टि में साधना से अलग दर्शन की इयत्ता और इतिकर्त्तव्यता क्या है जिससे कि उनके दार्शनिक अवदान का उचित मूल्यांकन किया जा सके? प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में वे प्रश्न फिर प्रासंगिक हो उठे हैं, क्योंकि इनके उत्तर ही दर्शन और फिर भारतीय अन्वीक्षा के रूप में उनकी दृष्टि का आकलन करने में सहायक होंगे। स्वयं कविराज जी, प्रो. दयाकृष्ण, कालिदास भट्टाचार्य और गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय आदि मनीषियों ने इस पर जो गम्भीर विचार किया है उसी का आश्रय लेकर मैं कुछ प्रगल्भ होने का साहस जुटा रहा हूँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1. तंत्रालोक-विवेक, जयरथ, काश्मीर संस्करण, भा. 12, पृ. 428

2. The reason why no serious attempt was made is said to have been either that it was deemed improper to drag down for rational examination truths inaccessible to the experience of ordinary men, or that no further systemetization of the revealed truths than what is contained in the allied works of the Saiva philosophers was needed for the average reader. This reason is not convincing enough, for if the Upanisads could be made the basis of a philosophical system, there is no reason why the Sakta Agamas could not be similary utilized. For the function of philosophy is, as Joad rightly remakrs, to accept the data furnished by the specialists who have worked in the field and then to assess their meaning and signifiance.

   एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 174-175

3. वही, पृ. 71-76

4. Nevertheless it is desirable to say just a few words by way of introduction concerning the aims and methods of this philosophy and the meaning of philosophy in general in India. वही, पृ. 71

5. तुलना कीजिए–''उक्तेपु त्वप्रमाणकेष्वपि अभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते। संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्तयकं प्रेक्षावताम् ... अर्थसम्भावना अनर्थसंभावनाविरुद्धा उत्पद्यते। तया प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते।'' –न्यायबिन्दु 1.1 पर धर्मोत्तर की टीका; और भी देखिए, 'संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकी' न्यायवार्तिक, पृ. 13

6. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 76

7. गोपीनाथ कविराज्स थॉट्स–टुवर्ड्स अ सिस्टेमेटिक स्टडी, कालिदास भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1982, पृ. 1-7

8. Commonly, it is termed spiritual perception, intuition, enlightenment, etc., and, technically, rational intuition, transcendental reflection, a priori anticipation (of nature and its diverse features), (Phenomenological) intention, (the existentialist's) authenticity, etc.

   गोपीनाथ कविराज्स थॉट्स–टुवर्ड्स अ सिस्टेमेटिक स्टडी, कालिदास भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1982, पृ. 3

9. इस सम्बन्ध में उन्होंने ज़रा भी सन्देह नहीं रहने दिया है। डॉ. नथमल तातिया की पुस्तक स्टडीज़ इन जैन फिलासफी में वे कहते हैं–We have had enough of analytical work attempting to describe the different systems in isolation, taking each as a distinct prasthana and proceeding along its own line. But time, I believe, has come when scholars should come

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

out from their narrow grooves, take up a synthetic view of things, and try to discover the underlying unity and interpret India's outlook as a whole. (p. xxiii) यह बात उन्होंने अनेक जगह कही है, यह उद्धरण केवल उपलक्षणात्मक है।

10. इस दृष्टि के पल्लवन के लिए देखिए प्रो. ब्र.व. द्विवेदी का लेख 'आगम एवं तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन', पृ. 30
11. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 95-96
12. एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन थॉट, बर्दवान, द्वितीय संस्करण, पृ. 105
13. वही, पृ. 71, भारतीय संस्कृति और साधना, पटना, पृ. 1,3; तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पटना, पृ. 1
14. अद्वयता की व्याख्या 'पूर्णता' या 'सामरस्य' की शब्दावली में की गयी है। दोनों प्रत्ययों का लक्ष्यार्थ यद्यपि एक है तथापि उनके अभिधेयार्थ में सूक्ष्म अन्तर है। 'पूर्णता' मूल तत्त्व की अखण्ड आत्म-सामर्थ्य का बोधक प्रत्यय है और 'सामरस्य' उसके विरोध-परिहारात्मक स्वरूपावस्थान का।
15. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-1, पृ. 5
16. प्रस्तुत लेखक का 'तान्त्रिक दर्शन : प्रकृति और सांस्कृतिक सन्दर्भ' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका, पटना, कविराज स्मृति विशेषांक, पृ. 38
17. इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लन्दन, भाग-2, पृ. 190
18. अण्डपिण्डरुभयोरैकरूप्यमाम्नायेषु प्रसिद्धम्। महार्थमंजरी-परिमल, वाराणसी, पृ. 8
19. भारतीय संस्कृति और साधना, पटना, भाग-1, पृ. 230-33, 256-57
20. भारतीय संस्कृति और साधना, 1, पृ. 6
21. वही, पृ. 232, 256

    इस प्रसंग में अभिनवगुप्त का निम्नलिखित श्लोक कविराज जी को अत्यन्त प्रिय रहा है–

    स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नान्नो पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वप्रवृत्तिम्।
    यस्तु ध्वस्तारिवलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
    कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्त्तव्यमात्रम्॥–तंत्रालाक 2.39

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्री अरविन्द की वेद-मीमांसा

रमेशचन्द शाह

'श्री अरविन्द आर्काइब्ज़ व रिसर्च जर्नल के दिसम्बर, 1985 के अंक में 1913 का लिखा एक लेख संकलित है, जिसे आश्रम द्वारा 'वेदार्थ दीपिका' नाम से हिन्दी रूपान्तर में प्रकाशित किया गया है। उक्त लेख का समापन करते हुए श्री अरविन्द ने दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली, किन्तु वास्तव में परस्पर पूरक बातें कही हैं। एक तो यह, कि शक्तिशाली बाह्य उपादानों के नैरन्तर्य के बावजूद काल-विपर्ययों के कारण हमने वेदार्थ पर अपनी पकड़ खो दी है और इसीलिए वेदान्त का भी सम्पूर्ण अर्थ हम नहीं जानते; दूसरे यह, कि इन दोनों क्षतियों की पूर्ति योग और ध्यान की विधियों से तथा समय-समय पर प्रकट होते रहने वाले साक्षात्कारी महापुरुषों के अनुभव की साखी से की जा सकती है।[1] कहना न होगा कि इस कथन के पीछे स्वयं श्री अरविन्द के अपने अनुभव का अन्त:प्रमाण बोल रहा था। इसी अन्त:प्रमाण के बूते वे तब भी—यानी, सन् 1913 में ही - यह देख सके थे कि "वेद के परिपूर्ण सत्य की पुनरुपलब्धि केवल आधुनिक मनुष्य के बौद्धिक कुतूहल की तृप्ति के लिए निर्णायक व्याख्या की लालसा भर नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति के भविष्य के लिए एक ठोस व्यावहारिक ज़रूरत है।"[2] आगे इसी लेख में उन्होंने अपना यह विश्वास भी व्यक्त किया है कि वेद में छुपा मर्म जब पूरी तरह प्रस्फुटित हो जाएगा तब दिव्य जीवन का ज्ञान और अभ्यास उसमें पूरी तरह प्रकट और परिभाषित होगा और मानव-जाति की दिव्य जीवन की दिशा में जो अचेतन जीवन-यात्रा रही है वह मानवी बुद्धि और इन्द्रियों की सन्तुष्टि में लगी उसकी ऊर्जा के सुदीर्घ भटकाव के उपरान्त निश्चय ही अपने केन्द्र की ओर उन्मुख होगी।

वेद-व्याख्या की परम्परा अपने यहाँ प्राचीन काल से ही चली आ रही है। यों बोलाबाला तो कर्मकाण्डीय व्याख्या का ही रहा, तो भी जैसाकि स्वयं श्री अरविन्द के उपर्युक्त लेख में भी लक्षित है, व्याख्या के वैकल्पिक भाष्यों में सर्वाधिक स्वीकृत और कालक्रम के हिसाब से भी अन्तिम भाष्य सायण का है, जो स्वयं भले कर्मकाण्डी ही रहे हों पर उनके भाष्य में यत्र-तत्र अन्य वैकल्पिक सम्प्रदायों के अस्तित्व का साक्ष्य झलकता ही है। तत्पश्चात्, उपनिषदों पर विशेष रूप से एकाग्र, शताब्दियों तक फैली हुई भाष्य-परम्परा के बाद उन्नीसवीं शती में स्वामी दयानन्द और बीसवीं शती में आनन्दकुमार स्वामी, श्री अरविन्द तथा श्री अनिर्वाण को ऋग्वेद के एक ऐसे नये और अद्यतन भाष्य की आवश्यकता अनुभव हुई जो इस विश्वास से प्रेरित थी कि इन वैदिक मन्त्रों में कुछ ऐसी नयी और महत्त्वपूर्ण अर्थ राशि है जो विचार व भाव-बोध की दृष्टि से आमूलचूल बदल चुके हमारे इस संसार के बीचोंबीच और आर-पार भी आधुनिक मस्तिष्क को प्रेरित कर सकती है तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिसके साथ हम भारत और पश्चिमी दोनों की बौद्धिक परम्पराओं में भागीदारी करते हुए एक सार्थक संवाद में संलग्न हो सकते हैं।

हमारा समय अपनी अभूतपूर्व चुनौतियों, संकटों तथा विश्व-स्तर पर सभ्यताओं, संस्कृतियों के व्यामिश्र के चलते ऐसी हालत पैदा कर चुका है कि चाहे-अनचाहे हम इसके उत्तराधिकारी बनने को बाध्य हो गए हैं। किन्तु इसी अभिशाप में हमें वरदान की सम्भावना भी दीखती है : एक विस्थापित की तरह पीछे हटकर, काफी दूरी से अपने केन्द्र की झलक पाने की, अनेक भटकनों और जोखिमों से निथरी हुई दृष्टि-सम्पन्नता के साथ घर-वापसी की, अर्थात् अपनी आत्मा के अधिवास की पुनरुपलब्धि की सम्भावना की। यहीं पर श्री अरविन्द का जीवन-कार्य हमारे लिए प्रखर रूप से प्रासंगिक लगने लगता है। क्या अन्य किसी भारतीय चिन्तक ने इस दुहरे कर्त्तव्य को इतने सुदृढ. संकल्प-अध्यवसाय के साथ और ऐसी कारयित्री-भावयित्री प्रतिभा के साथ निभाया है? निश्चय ही यह एक विलक्षण जीवन की कथा है—निरन्तर अपना ही अतिक्रमण करते चले जाने वाले जीवन और व्यक्तित्व की। वेद के रूपक में इस घटना को कहें तो यह एक शिखर से दूसरे, फिर तीसरे शिखर तक आरोहण की कथा है, जिसकी परिणति भी, प्रक्रिया भी उस प्रज्ञा की है जो 'ऋतम्भरा' है, उस अन्तर्दृष्टि की है जो स्वानुभूत सत्य की गहराइयों और ऊँचाइयों को आलोकित करती चलती है।

वेद-व्याख्या समेत श्री अरविन्द का समूचा जीवन-कार्य एक ऐसे ही भागीरथ-प्रयत्न को दर्शाता है : वह भी एक ऐसी भाषा में, जो हमारी परम्परा के लिए तो अजनबी है ही किन्तु जिसके ज़रिये ऐसा भी बहुत कुछ हमारी विरासत में प्रविष्ट हो चुका है जो हमें उसमें नया जीवनदायी अर्थ खोजने-पाने की सामर्थ्य देता है। 'समस्या और उसका हल' शीर्षक वेद रहस्य ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्याय में श्री अरविन्द कहते हैं—

"ऋग्वेद में—जो यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि में एकमात्र प्रामाणिक वेद ठहरता है—हम यज्ञीय मंत्रों का एक ऐसा समुच्चय पाते हैं जो एक अति प्राचीन भाषा में रचे गए हैं और कई लगभग असमाधेय समस्याएँ खड़ी करते हैं। यहाँ हमारा साबका प्राचीन वाग्रूपों और शब्दों से पड़ता है जो परवर्ती भाषा में नहीं पाये जाते और जिन्हें अक्सर बौद्धिक चातुर्य की अटकलों द्वारा ही किसी संदिग्ध अर्थ में बाँधा जाता रहा है। फिर, कई सारे शब्द, जो क्लासिकल संस्कृत के साथ उभयनिष्ठ हैं, वे भी यहाँ उस परवर्ती साहित्यिक भाषा में उनके सुपरिचित अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं। अनेक सहस्राब्दियों के दौरान कम से कम तीन ऐसे व्याख्या-प्रयत्न इन मंत्रों के तात्पर्य को स्थिर करने के मिलते हैं जो अपनी प्रविधियों में ही नहीं, परिणामों में भी एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इनमें एक तो प्रागैतिहासिक समय में निष्पन्न हुआ और केवल कुछ टुकड़ों में ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र झलकता है, दूसरा जो पूरा अखण्डभाष्य पारम्पिरक ढंग का उपलब्ध है, वह सायण का है; और तीसरा—हमारे अपने समय में—आधुनिक यूरोपीय विद्वानों द्वारा तुलना और अनुमान द्वारा परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य। इन अन्तिम दो प्रयत्नों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक बात समान रूप से अनुभव की जा सकती है, और वह है अर्थ की असाधारण असंगति और क्षीणता, जो उन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उन प्राचीन मंत्रों पर आरोपित हो गई है।[3]

प्रश्न उठता है कि इस दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना से कैसे पार पाया जाय? बड़े सूक्ष्म-मारक व्यंग के साथ श्री अरविन्द कहते हैं, कि "विश्व-साहित्य में ऐसा दूसरा उदाहरण खोजे नहीं मिलेगा जहाँ इस कदर 'दुरूह और बर्बर' रचनाओं को दुनियाँ के सर्वाधिक समृद्ध धर्मों और सर्वाधिक गहन-गम्भीर दर्शनों का स्रोत मान लिए जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। किन्तु, यदि हम उपर्युक्त व्याख्याओं को स्वीकार करके चलें—चाहे सायण की, चाहे इस आधुनिक यूरोपीय विचार की—तो, वेदों की सारी महान् और अत्यन्त पावन प्रतिष्ठा एक मिथ्या गढन्त से अधिक नहीं ठहरेगी। इन महानुभावों का सारा पुरुषार्थ मानो इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रायोजित था कि ये मंत्र अशिक्षित और स्थूल भौतिक प्रपंचों में लिप्त असभ्य आदिम कबीलों की कपोल-कल्पनाएँ भर हैं, जिनका उद्देश्य प्राकृतिक शक्तियों की मिन्नत करके उनसे कुछ फायदे जुटा लेना भर है। अब, चूँकि परवर्ती धार्मिक और दार्शनिक समृद्धि की नींव उपनिषद् हैं, अतः मान लेना होगा कि उपनिषद् वेदों के कर्मकाण्डी भौतिकवाद के खिलाफ सूक्ष्मग्राही विचार-समर्थ दार्शनिक दिमागों का विद्रोह है। सचमुच यही छाप हम पर डाली गई है।

इस अविचार पर श्री अरविन्द की टिप्पणी यही हो सकती थी कि— "इतिहास की यूरोपीय समझ से उपजी यह मान्यता नितान्त अयुक्त और अनर्गल है, क्योंकि इससे कुछ भी तर्कसंगत समाधान नहीं मिलता। औपनिषद तत्त्वज्ञान शून्य में से नहीं उपजा था। मानव-मस्तिष्क की प्रगति सदैव ज्ञान से उच्चतर ज्ञान की दिशा में हुआ करती है। पूर्वलब्ध गूढ. और अस्पष्ट संकेतों को पकड़ कर वह नये आविष्कारों की ओर उन्मुख होती है। औपनिषद तत्त्वज्ञान किसी पूर्ववर्ती महान् मूलाधार की ओर इंगित करता है, जिसका उपर्युक्त व्याख्याएँ और मनमाने ढंग से आरोपित सिद्धान्त कोई पता नहीं देते।" तब फिर इस अपाट्य खाई को पाटने के लिए दूसरे मनगढन्त उपाय आज़माए जाते हैं। जैसे, बर्बर आर्य आक्रान्ताओं द्वारा द्रविड़ सभ्यता का उन्मूलन और तत्पश्चात् उन पराजितों की विचार-सम्पदा का अधिग्रहण इत्यादि।[4] श्री अरविन्द दर्शाते हैं कि, किस तरह यह खाई खुद हमारी बनाई हुई है जबकि वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वे इस अनर्थकारी पूर्वमान्यता की निराधारता दिखाने के लिए अपनी तरफ से एक दूसरा अभ्युपगम प्रस्तावित करते हैं। कहते हैं—

"जो अभ्युपगम मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, वह यह है कि ऋग्वेद अपने-आप में ऐसा एक दुर्लभ दस्तावेज़ है जो मानवीय विचार-शक्ति के अभ्युदय के आरम्भिक काल के अवशिष्ट के रूप में हम तक पहुँचा है : यह वह उदय काल है जिसका कुछ आभास यूनानी इतिहास में निबंद्ध इल्यूशियन और आर्फिक रहस्यानुष्ठानों के बचे-खुचे अवशेष देते हैं। वह ऐसा काल था जहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानव-जाति के आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक गुह्य-ज्ञान को किन्हीं मूर्त्त और भौतिक बिम्बों-प्रतीकों के अवगुंठन में छुपा लेने की आवश्यकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महसूस की जाने लगी थी। ये प्रतीक और आनुष्ठानिक आवरण अनधिकारी बहुसंख्यन्कों से उस गुह्य-ज्ञान सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए थे, किन्तु अधिकारी दीक्षितों के लिए पारदर्शी हो जाते थे। रहस्यदर्शियों के प्रमुख दिशा-निर्देशक सिद्धान्तों में एक यह भी था कि आत्म-ज्ञान और देवता-ज्ञान अत्यन्त पवित्र और गुह्य ज्ञान है, जिसकी गोपनीयता की रक्षा करना अनिवार्य कर्त्तव्य है। उनका सोच या अनुभव यह था कि यह पारलौकिक गुह्य ज्ञान सामान्य मानवीय मस्तिष्क के योग्य नहीं है, कदाचित् अपात्रों के लिए उसमें खतरा भी है। यह तो वे अपने अनुभव से जान ही चुके थे कि अपात्र के हाथों में पड़ गई विद्या न केवल निष्प्रभ हो जाती है बल्कि उसका दुरुपयोग तथा अनिष्ट-अनर्थकारी विनियोग भी हो सकता है। यही कारण था कि उन्होंने सामान्य जन के लिए बाह्य पूजा-अनुष्ठान के प्रचलित रूपों को प्रोत्साहित किया और थोड़े से चुने हुए अधिकारी सुपात्रों के लिए एक आन्तरिक अनुशासन-विधि मान्य की। यही वजह थी कि उन्होंने अपनी भाषा को ऐसे शब्दों और बिम्बों का आवरण पहनाया जो यह दुहरा धर्म निभा सकें : अधिकारी सुपात्रों को आध्यात्मिक ध्वन्यर्थ सम्प्रेषित हों और सामान्य उपासकों को उन्हें सन्तुष्ट करने वाले मूर्त्त-सगुण अभिप्राय। वैदिक मन्त्रों की संकल्पना और संरचना इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई थी। उनके सूत्र और अनुष्ठान एक ऐसे कर्मकाण्ड के अंग हैं जो उस समय प्रचलित बहुदेववादी प्रकृति-पूजापरक 'पैन थीइज़्म' को व्यक्त करता है। पर इस बाह्य रूपाकार के पीछे वे ही शब्द-संगतियाँ एक गूढ़ अर्थ को व्यंजित करती हैं : वे एक दीक्षागम्य, किन्तु अमूल्य आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञान के प्रतीक हैं, एक ऐसी आत्म-संस्कृतिपरक मनोवैज्ञानिक अनुशासन के संवाहक जो तत्कालीन मानव-जाति की सर्वोच्च उपलब्धि थी। सायण द्वारा मान्य किया गया आनुष्ठानिक तंत्र अपने सारे बाह्य ब्यौरों में टिका रह सकता है; इसमें भी कोई ख़ास हर्ज नहीं कि यूरोपीय विद्वानों ने जो उनका 'नेचुरलिस्टिक' अर्थ ढूँढा है वह अपनी सामान्य अवधारणाओं में स्वीकार कर लिया जाय, किन्तु माना जाय कि उनके परोक्ष में, पृष्ठभूमि में वेद-वाणी का सच्चा और अभी भी प्रच्छन्न मर्म विद्यमान है। वे गुह्य शब्द ('निण्या वचाँसि'—जिन्हें वेद में कहा गया है) उन्हीं के लिए उच्चारित हुआ करते थे जो विशुद्धात्मा हों—जिनके ज्ञान-चक्षु उन्मीलित हो चुके हों।''[5]

तो, इसी अप्रकट, किन्तु अधिक गहन और महत्त्वपूर्ण अर्थ को विविक्त करने का कार्य, श्री अरविन्द की दृष्टि में हमारा कठिन किन्तु अनिवार्य कर्त्तव्य है और इसके लिए वेद के बीज-शब्दों और प्रतीकों के अर्थ स्थिर करना, तथा साथ ही, वैदिक देवताओं के मनोवैज्ञानिक कार्यों (भूमिकाओं) को भी स्पष्टत: समझना ज़रूरी होगा। ''मेरे ये अध्याय और उनके साथ संलग्न अनुवाद''—वे कहते हैं— ''इसी अनिवार्य कर्त्तव्य की दिशा में एक तैयारी की तरह ग्रहण किये जायें।''[6]

यदि यह अभ्युपगम वैध सिद्ध होता है, तो श्री अरविन्द का कहना है कि, इसके तीन लाभ निश्चित हैं। एक, यह उपनिषदों के उन अंशों को आलोकित कर देगा जो अभी तक असूझ-अबूझ बने हुए हैं; साथ ही, पुराणों के भी अधिकांश का मूल स्रोत इससे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उजागर हो जाएगा। दूसरा लाभ यह होगा, कि भारत की समूची प्राचीन परम्परा को समझने और उसका तार्किक औचित्य स्थापित करने का मार्ग भी इससे प्रशस्त होगा। यह बात खुलकर सामने आ जाएगी कि वेदान्त, पुराण, तंत्र, छहों दर्शन-सम्प्रदाय और समस्त महान् भारतीय धर्मों का मूलोद्‌गम वेद ही हैं। तीसरा लाभ यह होगा कि स्वयं वैदिक पाठ-पाठान्तरों की प्रतीयमान असंगतियों में संगति बिठाते हुए उन्हें दूर किया जा सकेगा। क्योंकि वे असंगतियाँ तभी तक हैं जब तक अर्थ का वास्तविक सूत्र एक आन्तरिक अभिप्राय में नहीं खोज लिया जाता।

वेद के अवगाहन की प्रेरणा श्री अरविन्द को गीता और उपनिषद् पढ.चुकने और चित्त को चुप करने की साधना सिद्ध कर चुकने के बाद हुई। व्याख्या, वह भी ऐसी सुदूर रहस्यगर्भी कृति की, कितनी कठिन कला है, और इसमें कैसी पैठ इस प्रतिभा ने अर्जित कर ली थी, इसका जायज़ा लेने के लिए **वेद रहस्य** के कुछ उद्धरण टाँके जा रहे हैं। इनसे उनकी दृष्टि और व्याख्या-पद्धति की कुछ झलक मिल सकेगी। मैं यहाँ भी उनके मूल अंग्रेज़ी में लिखे गए ग्रन्थ से स्वयं अपने हिन्दी अनुवाद ही प्रस्तुत कर रहा हूँ (जैसाकि अन्यत्र भी इस लेख में मैंने किया है)। तो, लीजिए देखिए कुछ बानगियाँ श्री अरविन्द की वेद-मीमांसा विषयक चिन्तन की—

"... ऋग्वेद अपने समस्त विभागों में एक और अखण्ड है। हम चाहे जिस भी मण्डल पर ध्यान एकाग्र करें, हमें वही सार, वही विचार-सूत्र, वही बिम्ब और वही पदावलियाँ बारम्बार मिलेंगी। इन सूक्तों के रचयिता ऋषि एक ही सत्य के द्रष्टा-पद पर आरूढ. दिखेंगे और हम पाएंगे कि उस सत्य-साक्षात् की अभिव्यंजना के लिए वे एक ही सर्वनिष्ठ पदावली का उपयोग करने को अन्त:प्रेरित हुए हैं।"

"... वेद का प्रत्येक अंश—यदि वह सम्यक् रूप से समझा जाता है, तो हर दूसरे अंश को आलोकित करता है। विसंगति वहीं उत्पन्न होती है जहाँ हम उस पर पड़े आवरणों को भेदने में असमर्थ हैं और इसी कारण अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं।"

"... सर्वदा और सर्वथा वेद के मन्त्र एक-दूसरे की पुष्टि करते मिलेंगे - उन्हीं-उन्हीं अनिवार्यत: प्रयुक्त पदों और भावों के बीच उसी प्रकार के अन्तस्सम्बन्धों के द्वारा। यह कदापि सम्भव न हुआ होता यदि वे सभी एक ही सघन-सुसम्बद्ध और साक्षात्कृत सिद्धान्त पर आधारित न होते और उनके द्वारा प्रयुक्त पद भी एकाग्र और सुनिश्चित अर्थों का द्योतन करने वाले न होते। यहाँ कुछ भी स्वैर, मनमाने ढंग से नहीं होता। अपनी समग्र संगति और एक-ता में वेद एक स्वत:पूर्ण, सर्वांगसुन्दर कृति है। अत: हमें सर्वप्रथम इस एक-ता को ही समग्रत: आत्मसात् करना होगा, यदि हम सारे सूक्तों में विनिवेशित प्रतीकों को सही-सही उनके याथार्थ्य में ग्रहण करना चाहते हैं, तो।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदों में निबद्ध ये विभिन्न प्रतीक और दृष्टान्त-कथाएँ आपस में किस कदर जुड़ी हुई हैं, देखने की बात है। हम व्याख्या के सच्चे मार्ग से ही भटक जाएंगे यदि हम रूपक-कथा को ... अपने आप में असम्बद्ध एक बाहरी मिथक की तरह बरतते हैं—बिना वेद की सर्वसामान्य भाव-भूमि के अन्तर्गत उसकी सही जगह को पहचाने और मनमाने ढंग से उसकी व्याख्या करते हुए।

"... उपर्युक्त सिद्धान्त ही—जिसे हमने बाहर से नहीं थोपा—बल्कि जो सीधे-साधे मंत्रों की भाषा और उनमें अन्तर्निहित संकेतों के भीतर से ही उद्भूत होता है—यह सिद्धान्त ही वेद की सारी बिम्बमाला को अन्तर्ग्रथित करने और प्रतीयमान विसंगतियों के बीच एक सुस्पष्ट अर्थसंगति बिठा पाने में सक्षम है। वास्तव में, जहाँ हमने एक बार उक्त केन्द्रीय भाव को आत्मसात् कर लिया और वैदिक ऋषियों की भाव-भूमि और चेतना-स्तर में प्रवेश पा लिया तथा उनकी प्रतीक-दृष्टि के तत्त्व को हृदयंगम कर लिया, वहाँ फिर किसी प्रकार की असंगति या अव्यवस्था की गुंजाइश नहीं रह जाती। तभी हम देख पाएंगे कि यहाँ एक सुदृढ़-सुनिश्चित प्रतीक-व्यवस्था है, जिसमें, केवल कुछ परवर्ती मंत्रों को छोड़कर, कोई खास बदलाव नहीं आते। यह भी, कि इन्हीं प्रतीकों के प्रकाश में वेद अपना आन्तरिक मर्म सहज रूप में और सर्वत्र ही हमारी बुद्धि की ग्रहण-शक्ति के लिए उजागर करते हैं। दूसरे शब्दों में, इस सारे बिम्ब-संयोजन के पीछे उसे प्रेरित करने वाला सारभूत विचार निरन्तर एक साथ सुस्थिर, सुसंगत, अपरिवर्तनीय है।"[8]

यह आकस्मिक नहीं है कि तीस बरस बाद 'हिम्न्ज़ टु द मिस्टिक फायर' (जो 1946 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था) के प्राक्कथन में श्री अरविन्द वेद-व्याख्या के अपने उसी सारभूत सिद्धान्त को दुहराते-रेखांकित करते दिखाई देते हैं। उनकी दृष्टि को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करें तो वह यह है कि, ...

"यदि हम 'ऋत' शब्द को लगातार वही एक मुख्यार्थ देते हैं, उससे इधर-उधर हुए बिना, तो एक अद्भुत, मगर सुस्पष्ट परिणाम निकलता है। यदि हम यही बरताव वेद के अन्य बीज-शब्दों पर भी लागू करें, अर्थात् उन्हें उनके सामान्य, सहज और सीधे-सीधे अभिप्राय दें—लगातार, और बिना किसी हेर-फेर के,—बिना उनके अर्थ के साथ छेड़खानी किये अथवा उन्हें कर्मकाण्डी शब्दावली के साथ गड्डमड्ड किये ... तो यह परिणाम अधिकाधिक स्पष्ट, विस्तृत और व्यापक होता जायेगा।"

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक लग रहा है कि हालांकि श्री अरविन्द केवल उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय वेदोलॉजिस्टों के काम से परिचित थे, उनके बीसवीं सदी वाले उत्तराधिकारियों की शोध से नहीं, तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त व्याख्या-सिद्धान्त अद्यतन यूरोपीय विद्वानों द्वारा सामान्यत: अपना लिया गया है। हमारे एक प्रखर दर्शन-शास्त्री प्रो. जे.एल. मेहता—जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वेद के गहन अनुशीलन में जुटे हुए थे—उनके कथनानुसार, "यह सिद्धान्त अब हाइनरिख लूडर्ज़, पॉल थाइम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और जान गोंडा द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। इतना ही नहीं, श्री अरविन्द जिस तरह ऋत को सदैव 'सत्य' के रूप में परिभाषित करते रहे, इस दृढ विश्वास के साथ कि यह ऋत अर्थात् सत्य ही वैदिक ज्ञानानुभूति का बीज-शब्द तथा उसके मर्म की कुंजी है, ठीक उसी परिणाम पर ये बीसवीं सदी के विदेशी वेद-विशेषज्ञ भी अपने स्वतन्त्र शोध के ज़रिये पहुँचे हैं। हाइनरिख लूडर्ज़ को तो आठ सौ पृष्ठों की एक पूरी किताब ही लिखनी पड़ी— अपने सहकर्मियों को यह भरोसा दिलाने के लिए—कि 'ऋत' का अर्थ 'सत्य' ही है और वही वैदिक धर्म की केन्द्रीय अवधारणा है। स्वयं श्री अरविन्द के शब्दों में— "ट्रूथ वॉज़ दि सेण्ट्रल ऑब्जेक्ट ऑव द सीकिंग ऑव द मिस्टिक्स, अ स्पिरिचुअल ऑर इनर ट्रूथ, अ ट्रूथ ऑव अवरसेल्व्ज़, अ ट्रूथ ऑव थिंग्ज़, अ ट्रूथ ऑव दि वर्ल्ड ऐंड ऑव दि गॉड्ज़, अ ट्रूथ बिहाइंड ऑल वी आर ऐंड ऑल दैट थिंग्ज़ आर" (अर्थात्, "उन रहस्यदर्शी ऋषियों की अभीप्सा का केन्द्रीय लक्ष्य-विषय सत्य ही था—वह सत्य जो आध्यात्मिक अथवा आन्तरिक सत्य है; जो हमारा अपना अन्तरतम सत्य है; जो वस्तुओं का अन्तर्भूत सत्य है; जो विश्व का सत्य है और विश्वातीत देवताओं का भी; जो वह सब जो हम हैं और वह सब जो वस्तुएँ हैं, उस सब का आधारभूत सत्य है")।

इसके बावजूद—प्रो. मेहता ने बड़े क्षोभ के साथ इस विडम्बना को रेखांकित किया है, कि—यूरोपीय वेद-विशेषज्ञों का अपना एक संकुचित दायरा है, एक तरह का 'एकेडेमिक क्लब', जिसमें और किसी के लिए तो क्या, स्वयं श्री अरविन्द सरीखे पथ-निर्माता के लिए भी कोई जगह नहीं निकल पाती।[10] इन्हीं लूडर्ज़ महाशय के वैदिक शोध सम्बन्धी उपर्युक्त प्रसिद्ध ग्रंथ में अरविन्द का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। लूडर्ज़ के यहाँ ही क्यों, वेद पर श्री अरविन्द के इतने मौलिक और बृहद् कार्य की—जो लगभग ग्यारह सौ पृष्ठों की प्रकाशित सामग्री है—पाश्चात्य वेदालॉजिस्टों की मण्डली में—कहीं कोई प्रतिध्वनि नहीं सुनाई पड़ती—इक्का-दुक्का उदाहरणों को छोड़, जबकि अरविन्दवादियों के वृत्त से बाहर, विद्वज्जगत् में अरविन्द के जीवन-कार्य का सर्वाधिक सूक्ष्म और गुणग्राही मूल्यांकन करने वाले प्रो. मेहता का मानना है, कि "... मेरी सम्मति में अरविन्द का वेद विषयक अनुशीलन उनके समस्त वाङ्मय का सबसे आधारभूत और केन्द्रीय स्तम्भ है, जो अरविन्द के सृजनात्मक चिन्तन का समूचा भार वहन करता है। यही वह वृन्त है जिस पर उन्हीं के प्रिय रूपक का उपयोग करते हुए कहें तो, उनके चिन्तन का सहस्रदल कमल प्रस्फुटित हुआ है।"[11]

यहाँ यह उल्लेख भी प्रासंगिक होगा कि जिस वर्ष श्री अरविन्द द्वारा ही संपादित पत्रिका 'आर्य' में उनके वेदविषयक निबन्ध प्रकाशित हुए थे उसी वर्ष उनके जीवन-दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ **दि लाइफ डिवाइन** का भी धारावाहिक प्रकाशन उसी पत्रिका में आरम्भ हो गया था। साथ ही, **सिंथेसिस ऑव योग** नामक कालान्तर में तीन खण्डों में प्रकाशित बृहदाकार ग्रन्थ का भी। मेहताजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस घटना पर टिप्पणी करते हुए उचित ही लक्ष्य किया है कि, ..."**दि लाइफ डिवाइन** प्रकारान्तर से ज्ञान की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक आधुनिक संहिता ही है—मानो, वेद का ही एक आधुनिक अवतरण, जो पाश्चात्य विवेचन-शैली और सनातन वैदिक गुह्य ज्ञान का एक विलक्षण संश्लेषण है। यह श्री अरविन्द की मनीषा के माध्यम से समस्त मानव-जाति के सामूहिक जीवन और उसकी सम्भाव्य नियति को आलोकित करने के लिए अवतरित हुआ है।'' यह यूँ ही नहीं है, कि **दि लाइफ डिवाइन** के प्रत्येक अध्याय के शीर्ष पर सारगर्भित और दिशा-निर्देशक सूक्तियों की तरह वैदिक ऋचाओं के ही उद्धरण टाँके गए हैं। यह दर्शाता है कि इस आधुनिक ऋषि के कृतित्व में भाष्यात्मक चेतना की कितनी बड़ी और केन्द्रवर्ती भूमिका है।''

दि सीक्रेट आव दि वेदाज़ (पहले, 'ऑन दि वेद' नाम से प्रकाशित) के अन्त में, देशी-विदेशी विद्वत्ता के मूल्यांकन को, स्वयं अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को, तथा उस पर आधारित अपनी मौलिक व्याख्या-पद्धति के औचित्य को अनेकानेक संदर्भों में प्रमाणित कर चुकने के बाद श्री अरविन्द ने 'इण्टरप्रिटेशन ऑव दि वेद' शीर्षक एक अध्याय और जोड़ा है ('दि उरिजिन्स ऑव दि अथर्व स्पीच' के अलावा), जो दरअसल अपने एक आलोचक को दिया गया उनका उत्तर है। यह उत्तर मद्रास से निकलने वाले समाचार-पत्र 'दि हिन्दू' में 27 अगस्त, 1914 के अंक में छपा था, जिससे ज़ाहिर है कि जिस समीक्षा का यह उत्तर है वह आर्य पत्रिका के उन अंकों से सम्बन्धित है जिनमें ये वेद विषयक आरम्भिक लेख छपे थे। इस संक्षिप्त लेख का समापन करते हुए मुझे इस आलोचना की आलोचना का जिक्र करना ज़रूरी लग रहा है, क्योंकि यह प्रतिक्रिया श्री अरविन्द की वेद-व्याख्या-पद्धति को, तथा उसकी अद्यावधि प्रेरक जीवन्तता की सम्भावनाओं को झलकाती प्रतीत होती है। अपनी उस प्रतिक्रिया का उपसंहार करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—

''मैं दावा नहीं करता कि वेद की आध्यात्मिक व्याख्या करने का मेरा यह प्रयत्न इस दिशा में किया गया पहला ही प्रयत्न है। वह पहला है, या सौवाँ है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरा प्रयत्न यह है कि आद्योपान्त वेद के गूढ. (एसोटरिक) और मनोवैज्ञानिक अर्थ पर ही अपना ध्यान एकाग्र करूँ और ऐसी पद्धति अपनाऊँ जो आलोचनात्मक गवेषणा की आधुनिक और अद्यतन प्रवृत्ति के मेल में हो। वैदिक पदावली की मेरी व्याख्या तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की पुन: परीक्षा पर आधारित है : उसकी अपनी दृष्टि से एक नये आधार पर पुनर्रचना करने पर। मैं आशा करता हूँ, यह भाषा के एक सच्चे वस्तुनिष्ठ विज्ञान के निकटतर पहुँचाने में मदद करेगा। इस सम्भावना को मैं अलग से एक अन्य ग्रन्थ में विवृत करना चाहता हूँ—**दि ऑरिजिन्स ऑव दि आर्यन स्पीच** के अन्तर्गत। मैं यह भी आशा करता हूँ कि मेरा यह प्रयास हमें आध्यात्मिक अनुभूति की प्राचीनतम अवधारणाओं के सम्यक् अर्थ की पुनरुपलब्धि की दिशा में ले जायेगा, उस अर्थ की दिशा में, जिसका संकेत हमें उनमें प्रयुक्त प्रतीकों और मिथकों से मिलता है और जो, मेरा विश्वास है, उस काल में पृथ्वी के अधिकांश भाग में व्याप्त एक सर्वनिष्ठ संस्कृति के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग थे। सम्भवत: भारत उस सर्वव्यापी और सर्वनिष्ठ संस्कृति का केन्द्र स्थल था। यदि मेरे इस प्रयत्न में कोई मौलिकता है तो वह उक्त इसी प्रतीति की प्रेरणा से किये गए एकाग्र अध्यवसाय में।[12]

एम-4, निराला नगर,
भदभदा रोड,
भोपाल - 462003

सन्दर्भ

1. वेदार्थदीपिका, पृ. 22
2. वही, पृ. 23
3. द सीक्रेट ऑव दि वेदाज़, पृ. 1-2
4. वही, पृ. 3
5. वही, पृ. 5-6
6. वही, पृ. 6
7. वही, अध्याय-6, पृ. 54
8. वही, पृ. 178
9. श्री जे.एल. मेहता द्वारा **'श्री अरविन्दो'** नामक मोनोग्राफ में उद्धृत तथा उनके मरणोपरांत प्रकाशित प्रशस्ति ग्रन्थ फिलॉसफी एँड रेलीजन में संकलित। देखें इस ग्रन्थ का पृ. 169
10. वही, पृ. 169
11. वही, पृ. 170
12. दि सीक्रेट ऑव दि वेदाज़, पृ. 548

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय परंपरा में नारी की अस्मिता

यशदेव शल्य

'भारतीय परंपरा' इसका कोई स्पष्ट अर्थ है, ऐसा मुझे नहीं लगता, क्योंकि भारत का इतिहास बहुत सुदीर्घ है और इसकी मानस-रचना अनेक विचार-धाराओं और भाव-धाराओं का संकुल है। भारत की परंपरा में यदि किसी बात में नैरंतर्य देखा जा सकता है तो इसमें कि यहाँ विरोधी विचारों के प्रति कभी असहिष्णुता नहीं रही, विचारक विरोधी पक्ष को आदरपूर्वक प्रस्तुत करके उसका खंडन करते हुए ही अपना विचार प्रस्तुत करते थे और उसे 'पूर्वपक्ष' कहा जाता था। यहाँ वेदों के काल में ही वेद-विरोधी भी रहे और इस युग के क्रम में ही बुद्ध, महावीर, मक्खलि घोषाल, अजित केश-कंबली और चारवाक आदि जैसे अनेक अत्यन्त प्रभावशाली वेद-विरोधी संप्रदायों के प्रवर्त्तक रहे। इसी प्रकार 19वीं तथा आरंभिक 20वीं शताब्दी के घोर पौराणक और स्मृति-प्रमाणता के युग में इसके घोर विरोधी संप्रदायों—आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज का और स्मृति-विरोधी शूद्र-आन्दोलनों का प्रवर्तन हुआ। इस प्रकार के विचार-स्वातंत्र्य-युक्त समाज में कोई परंपरा निरन्तर नहीं बनी रह सकती—सिवाय ऐसे अन्तरालों के जिनमें समाज में एक वैचारिक उन्निद्रता हो। किन्तु यदि परंपरा का अर्थ वर्तमान से ठीक पहले उपलब्ध समाज-मानस और सामाजिक व्यवहार लिया जाय तो बात उतनी अस्पष्ट नहीं रह जाती। परंपरा का अर्थ यही लेना भी चाहिए, इतिहास के किसी विशिष्ट काल और विशिष्ट शास्त्र को परंपरा नहीं कहना चाहिए—जब तक कि वह समाज-मन के वर्तमान में, या उसके सद्यः अतीत में प्रभावी नहीं हो। 'वेदों में स्त्री का क्या स्थान है, या रामायण और महाभारत अथवा स्मृतियों में क्या स्थान है' यह बात वहीं तक प्रासंगिक हो सकती है यदि उसका हमारे वर्तमान आचार-व्यवहार से कोई सम्बन्ध हो। यदि उनका हमारे वर्तमान और सद्यः अतीत से कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह हमारी परंपरा कैसे हुई? जिन देशों की संस्कृतियाँ समाप्त हो चुकी हैं उनकी पिछली संस्कृतियों को उनकी परंपरा इसी से नहीं कहा जाता। हमारी संस्कृति उच्छिन्न नहीं हुई है इसी से हमारी परंपरा को प्राचीन भी कहा जाता है, किन्तु इसी अर्थ में कि इसमें एक अजस्रता है, वह वेदों या स्मृतियों में अटकी हुई नहीं है। वह जोहड़ नहीं हो कर प्रवाह है। यदि इसमें कभी स्थिरता आयी तो इसमें सड़ांध ही उत्पन्न हुई। परंपरा के इतिहास की यह सड़ांध भी एक भाग होती है। यदि परंपरा में अवरोध समाप्त हो गया, सड़ांध दूर हो गई, तो यह बात उस जाति के जीवित होने की निदर्शक होती है। अब, परंपरा को इस अर्थ में लेते हुए यदि स्त्री के संदर्भ में इसे देखते हैं तो हमारा वर्तमान युग समाज में स्त्री की अत्यन्त गर्हणीय स्थिति के उत्तराधिकार और इस स्थिति को बदलने के प्रयत्नों के साथ आरंभ होता है। स्वामी दयानंद ने स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन किया, जिसका अर्थ है कि उस समय हमारे समाज में स्त्री को पढ़ना-लिखना सिखाना वर्जित जैसा था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधवा विवाह तो वर्जित था ही, यहाँ तक कि पति के मर जाने पर स्त्री का उसके साथ चिता पर आत्म-दाह करना तक आदर्श माना जाता था और ऐसी स्त्री को सती : सत्य-व्रता : कहा जाता था। ये उस व्यापक और गहरे रोग के दो लक्षण मात्र हैं जो रोग समाज में उसके स्त्री-पक्ष को लेकर गहरा और सर्वव्यापक जैसा था। स्त्री के प्रति इस दृष्टि के बीज हमारी परंपरा के सुदूर अतीत में नहीं हों, ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ सीता और सावित्री स्त्री की आदर्श ही नहीं बतायी जाती रहीं, इस आदर्श से व्यवहार में च्युति स्त्री के लिए बहुत भयानक भी बना दी गई। स्वयं सीता को अग्नि-परीक्षा में डालने और वनवास देने में इस परंपरा को कोई शर्म नहीं आयी। दूसरी ओर राम का एकपत्नी-व्रतित्व केवल अपवाद के रूप में ही नियम रहा, अन्यथा व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इतना ही नहीं, स्त्री के साथ पुरुष द्वारा बलात्कार होने पर भी स्त्री अत्याचारित नहीं मानी जा कर दूषित और उच्छिष्ट मानी जाती थी किन्तु पुरुष को कोई दोष नहीं लगता था, दुराचार का दोष भले ही कभी लगता हो, जो साधारण दोष :विहित आचार-संहिता के साधारण अतिक्रमण : से भिन्न नहीं देखा जाता था।

तो यह है नारी विषयक हमारी परंपरा जो बहुत कुछ अभी तक हमारे व्यवहार की अंग है। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि स्त्री के दलन और उस पर अन्याय-अत्याचार की यह परंपरा केवल भारत तक सीमित नहीं थी, सम्पूर्ण मानव-जाति की, विशेष रूप से सभ्य कहे जाने वाले सभी समाजों की, यही परंपरा रही है। और यह अभिवृत्ति केवल पुरुष की स्त्री के सम्बन्ध में ही नहीं रही है, यह पुरुषों में वर्गों की वर्गों के प्रति भी रही है। मनुष्य का सारा इतिहास जितना सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकास का इतिहास रहा है उससे कहीं अधिक यह असंस्कृति और असभ्यता का इतिहास रहा है। वास्तव में मनुष्य हज़ारों वर्षों की अपनी यात्रा में किसी ऐसे गन्तव्य की ओर नहीं बढ़ा है जिसे वह अपनी प्रगति का प्रमाण कह सके, क्योंकि उसे यही पता नहीं है कि उसका गन्तव्य है क्या? यूरोप यंत्र की कुशलता में मनुष्य की प्रगति देखता है, इससे वह आज के युग को, और उसमें यूरोप को, सबसे उत्कृष्ट देखता है। अचेतन या अर्ध-चेतन रूप से हम भी ऐसा ही देखते हैं। किन्तु यंत्र की कुशलता मनुष्य की, या सभ्यता की भी, उत्कृष्टता की मानदंड हो सकती है, यह स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है। संभवत: मनुष्य का मूल लक्षण सदसद् विवेक को ही कहना चाहिए। अब, उसका यह विवेक क्रमश: सम्यक् से सम्यक्तर हुआ है यह कहने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है। पत्थर के उपकरणों से आरंभ कर वह कम्प्यूटर तक पहुँचा है, यह निश्चय ही अद्भुत विकास-यात्रा हैं, किन्तु साथ ही वह पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों से आरंभ कर कुशलतम मिसाइलों और ध्वंसकतम बमों तक भी पहुँचा है। यह प्रगति तो है, किन्तु यह किसी मानवीय गन्तव्य की दिशा में है या उसके विपरीत दिशा में, यह कहना कठिन ही जान पड़ता है। हमारी परंपरा में नारी की अस्मिता को इस परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। देखने की बात है कि क्या स्त्री के अधिकारों की चिल्लाहट में तुमुलतम यूरोप में स्त्री पर अत्याचार के आँकड़े आज से हज़ार वर्ष पहले के यूरोप के ऐसे आँकड़ों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई कम हैं? अवश्य कहा जा सकता है कि इन आँकड़ों की बात आज ही मनुष्य के ध्यान में आयी है, नारि-अस्मिता का प्रश्न आज ही उठा है, इससे पहले कभी नहीं उठा। यह ठीक है, यह सामाजिक स्तर पर आत्म-बोध की वृद्धि का लक्षण कहा जा सकता है। इससे समाज में स्त्री की स्थिति को लेकर अन्तर भी पड़ा है। किन्तु इस बोध में नारि-अस्मिता का जो अर्थ पूर्वगृहीत है वह कहाँ तक युक्तियुक्त है यह बात भी विचारणीय है, क्योंकि मनुष्य के साथ यह बहुत बड़ी समस्या जुड़ी हुई है कि विधाता ने जबकि इस जीव को उचित-अनुचित के विवेक का सहज बोध दिया है, यह बोध सहज नहीं दिया है कि वह इनकी पहचान भी सही कर सके, वह उचित को ही उचित और अनुचित को ही अनुचित के रूप में पहचाने। बहुत बार, और शायद अधिकांशतः ही, वह अनुचित को उचित और उचित को अनुचित माने चला जाता है।

अब, नारी के साथ पुरुष जो अत्याचार करता रहा है वह उसे उचित मान कर ही करता रहा है। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति', 'नारि नरक की खान', 'ढोर, गँवार, शूद्र, पशु, नारी' ये सब हमारे पूर्वजों के औचित्य-बोध, विवेक के ही द्योतक हैं। आज नारी की अस्मिता की जो बात की जा रही है वह इसी पृष्ठभूमि पर। ये सब निर्णय पुरुष के नारी के सम्बन्ध में हैं, नारी के अपने सम्बन्ध में नहीं। अवश्य नारी भी तब अपने सम्बन्ध में यही विचार रखती थी, किन्तु यह विचार उसका अपना नहीं था, यह पुरुष का विचार था जिसके अधीन नारी ने अपनी अस्मिता को बँधक बना दिया था। उस समय नारी पुरुष के समान एक व्यक्ति नहीं थी—अपने सम्बन्ध में स्वयं निर्णय ले सकने में समर्थ, अपनी नियति स्वयं तय करने में समर्थ। यदि उसे सम्मान भी दिया गया, जैसे अर्धांगिनी कह कर, कुछ यज्ञों में उसका साथ अनिवार्य करके, उसे पूजनीया बताकर (यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः) तो वहाँ भी यह पुरुष का ही निर्णय रहा, उसी के द्वारा नारी को दिया गया स्थान। वह स्वयं नारी के द्वारा अपने को दिया गया सम्मान या स्थान नहीं था।

किन्तु यहाँ विचारणीय है कि समाज में यों किसी को भी कोई स्थान स्वयं अपने द्वारा दिया गया कब होता है? सब सांस्कृतिक संस्कार-परंपरा के अधीन ही सोचते-समझते और बरतते हैं। जातियों का जन्म से निर्धारण इसी प्रकार हुआ। ब्राह्मणों के घर ब्राह्मण और शूद्रों के घर शूद्र ही उत्पन्न नहीं होते थे, जैनों के जैन, बौद्धों के बौद्ध, वैष्णवों के वैष्णव, नैयायिकों के नैयायिक भी उत्पन्न होते थे। आज भी बहुत कुछ ऐसा ही है। इसी से ब्राह्मण शूद्रों के प्रति ही अन्याय नहीं करते थे, अपने प्रति भी अन्याय करते थे। पौरोहित्य-कर्म को ही अपना साधन और साध्य बना लेना, अध्यापन के लिए कोई धन नहीं लेना आदि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो ब्राह्मणों पर स्वयं ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी धारणाओं ने लाद दी थीं, जिनके कारण वे भी कम कष्ट में नहीं रहे और अभी तक रह रहे हैं। शूद्रों या दासों की सभ्य समाजों में जो स्थिति रही है वह सबको विदित ही है और ये केवल स्त्रियाँ ही नहीं होते थे, पुरुष भी होते थे। उनके प्रति कोई *अन्याय* नहीं करता था, क्योंकि उन्हें उसी प्रकार के जीवन के योग्य माना जाता था। प्लेटो, अरस्तू और शंकर जैसे उत्कृष्टतम चिन्तकों ने दासों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और शूद्रों को इसी प्रकार देखा। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कोई शूद्रों के प्रति अन्याय करता था, जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि हम पालतू पशुओं के प्रति अन्याय करते हैं। वह बोध की, या कहें बोध-हीनता की, स्थिति थी। इस प्रकार यदि 'अस्मिता' का अर्थ 'आत्म-प्रतिष्ठा' को लें, अपनी जागृत चेतना में प्रतिष्ठा, स्वयं विचार कर सकने की योग्यता और उसके अनुसार जीवन-यापन करने की सामर्थ्य, तो कहा जा सकता है कि समाज में लगभग हम सभी अनात्म-प्रतिष्ठ, अस्मिता-विहीन ही अधिकांशत: होते हैं—अन्धेन नीयमाना यथांधा:। यही कारण है कि भगवान राम जैसे पुरुष भी सीता की शुद्धता की परीक्षा लेने का अनौचित्य और उसके सम्बन्ध में लोकापवाद की क्रूर बुद्धि-हीनता नहीं देख पाये। इतना ही नहीं, स्त्रियों के प्रति ये बर्ताव केवल पुरुष ही नहीं करते थे, स्वयं स्त्रियाँ भी करती थीं, क्योंकि वे इसमें कोई अन्याय नहीं देखतीं थीं।

इस प्रकार स्त्री के प्रति अन्यायपूर्ण स्थिति का उत्तरदायी सामान्य रूप से सामाजिक बोध-हीनता को ही कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ कुछ सीमाएँ लगाना आवश्यक है—गृहिणी के रूप में स्त्री मात्र सदैव प्रताड़ित रहती है, ऐसी बात नहीं है, बहुत सी स्त्रियाँ घर में प्रथम होती हैं—कभी अपने रूप के कारण और कभी अपने व्यक्तित्व की तेजस्विता के कारण और कभी अपने परिवार के दूसरे सदस्यों, विशेषत: अपने बच्चों के सहयोग से। रामायण में कैकेयी दशरथ पर हावी है, तुलसीदास जिस पत्नी के लिए घोर आँधी-वर्षा में भी नदी पार करके गए वह उनकी दासी और उनके ताड़न की अधिकारिणी नहीं थी, महाभारत में युधिष्ठिर ने केवल द्रौपदी को ही द्यूत में दाँव पर नहीं लगाया था, सब भाइयों को पहले लगाया था और द्रष्टव्य है कि महाभारत में द्रौपदी केन्द्रीय चरित्र है। समाज में स्त्री के स्थान पर विचार करते हुए इन उदाहरणों को ध्यान में नहीं रखना भ्रामक होगा। निश्चय ही स्त्री के विषय में दृष्टि-दोष तो रहे ही हैं, जिनके कारण वह एक वर्ग के रूप में ही पुरुष के भयानक अन्याय की भाजन रही है, किन्तु यह समाज में व्यापक अन्याय का एक अंग ही है, जैसे शूद्रों के उदाहरण में हमने पीछे देखा। इसी प्रकार युद्धों में विजेता सेनाएँ आती थीं तो स्त्रियों के साथ बलात्कार करती थीं किन्तु पुरुषों को भी छोड़ती नहीं थीं, वे उन्हें दास बना कर ले जाती थीं। पुरुष के स्त्री के प्रति व्यवहार को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसमें 'पुरुष' द्वारा 'स्त्री' पर अन्याय की बात नहीं है, यह एक सर्वग्रासी आसुरता की बात है। आज भी वही परिस्थिति है—मनुष्य की आसुरता की।

समाज में, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं, स्त्री के पुरुष से हीन होने की एक सामान्य धारणा थी और यह प्राय: सार्वदेशिक और सार्वकालिक थी। इसमें भारत की कोई विशिष्टता नहीं थी। इसका मूल संभवत: पुरुष के स्त्री से अधिक बलिष्ठ होने में था। कई आदिम समाजों में स्त्रियाँ ही घर के और बाहर के सब कार्य करती हैं, पुरुष बैठे केवल हुक्का पीते और बात करते हैं। किन्तु उनमें भी प्रभुता पुरुष की ही होती है। वैयक्तिक स्तर पर स्थिति इससे भिन्न हो सकती है, वैयक्तिक रूप से बहुत से भारतीय घरों में भी स्त्री की ही बात चलती है, कुछ घरों में पति पत्नियों से दबते हैं, किन्तु सामाजिक रूप से स्थिति यही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि पुरुष ही प्रमुख माना जाता है। इसी से स्त्री का पुरुष से दबना सहज माना जाता है, स्त्री से दबने वाले पुरुष को 'औरत का ग़ुलाम' कह कर उसकी हीनता बतायी जाती है। इसमें स्त्री के प्रति बहुत सा अन्याय भी हो गया, जिसका उल्लेख हमने पीछे किया है। स्त्री से शुचिता की अतिरिक्त अपेक्षा, उसके आधार पर उसके व्यवहार विषयक नियम जो मनु के 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' विधान में परिणत हुए, ये सब अविश्वसनीय रूप से मूर्खतापूर्ण धारणाएँ हैं, किन्तु ये लगभग सभी समाजों में पायी जाती हैं–आदिम समाजों सहित। यह सब अनात्मचेतन, अयुक्तियुक्त सामाजिक व्यवहार है–दूसरे अधिकांश सामाजिक व्यवहार की ही तरह।

इसमें आज कुछ सुधार हुआ है। आज किसी को शूद्र मानना और दास बनाना अविहित है–कानूनी अपराध है। बहुत दूर तक व्यवहार में ये दोनों बातें आज भी उसी तरह हैं, यह एक दूसरी बात है। यही बात स्त्री के सम्बन्ध में भी है। आज स्त्री के साथ बलात्कार होने पर स्त्री उच्छिष्ट और दूषित नहीं मानी जाती, अत्याचारित मानी जाती है, यह बात आज सामाजिक रूप से कम से कम विचारों में सभी सभ्य समाजों में स्वीकृत है। आज मनुष्य के अधिकारों की, जिसमें स्त्री भी पुरुष से अभिन्नतः सम्मिलित है, बात होने लगी है और यह प्रायः सर्वस्वीकृत है और इन अधिकारों का निर्णय युक्ति के आधार पर होता है, जिस युक्ति की मूल प्रतिज्ञा मनुष्य मात्र की समानता है।

यह सब ठीक है। इसे कम से कम एक दृष्टि से, या एक पक्ष में, सामाजिक प्रगति का द्योतक भी कहा जा सकता है, यद्यपि सामान्य रूप से यह कहना कि सामाजिक रूप में मनुष्य आज प्राचीन युगों से उत्कृष्टतर सोपान पर है, आज के युग की अहम्मन्यता ही होगी। किन्तु यहाँ प्रसंग स्त्री के स्वातंत्र्य, या कहें उसकी अस्मिता का है। किन्तु यह विचारणीय है कि 'स्त्री की अस्मिता' का क्या अर्थ है और इसमें आज के युग की दृष्टि कहाँ तक युक्तिसंगत है?

इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं जिन्हें दृष्टि-हीनता कहा जा सकता है और जिससे स्त्री के प्रति भयानक अन्याय होता रहा है। इसमें सर्वप्रथम स्त्री की शुचिता की अवधारणा रखी जा सकती है, जिसके अधीन किसी स्त्री के स्वैर व्यवहार को जघन्यतम अपराध माना जाता था। संस्कृत में एक प्रसिद्ध पुरानी उक्ति है–'योगादपि दुष्करं पर-दार निशेवनम्।' किन्तु पुरुष का यह परम योग स्त्री के स्वैरिणी हुए बिना सिद्ध नहीं हो सकता, यह इसमें भुला दिया गया है। इसी से इसका दूसरा पक्ष–'योगादपि दुष्करं पर-पुरुष निशेवनम्' कहीं सुनने में नहीं आता, क्योंकि स्त्री का पर पुरुष-निशेवन को काम्य मानना अकल्पनीय रूप से जघन्य माना जाता था। इस एकपक्षीयता के कारण यहाँ विधवा-विवाह वर्जित रहा और असंख्य बाल विधवाएँ भयानकतम यातनाएँ भोगती रहीं, जिनमें एक यातना स्वैरी पुरुषों की उपर्युक्त योग-साधना की उपकरण होना भी था। थोड़ा विचार करने पर यह बात अकल्पनीय लगती है कि किस प्रकार यह पूरा समाज, स्त्रियों के सहित, स्त्री की इस भयानकतम यातना के प्रति अंधा रहा, और व्यवहार में बहुत कुछ आज भी है। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टिहीनता की पराकाष्ठा बलात्कार होने पर स्त्री को उच्छिष्ट मानने में दिखायी देती है। 'बलात्कार' का अर्थ ही है पुरुष द्वारा स्त्री के साथ बलात् मैथुन, जिसमें स्त्री का कोई योगदान नहीं है, उस पर बल-प्रयोग हुआ है। किन्तु तब भी बलात्कारी उच्छिष्ट नहीं होता, स्त्री ही उच्छिष्ट होती है। इसी प्रकार, पर-दार के रूप में निशेवन के लिए स्त्री उच्छिष्ट नहीं होती कितु अपनी दार के रूप में वृह उच्छिष्ट हो जाती है। इस दृष्टि-हीनता ने स्त्री को विधवा ही नहीं बनाया, वेश्या भी बनाया। दूसरे प्रकार का अंधापन 'नारी को नरक की खान' कहने में दिखायी देता है। वह 'नरक की खान' इसलिए है क्योंकि वह पुरुष में काम-वासना की उद्दीपक है। इसमें एक ओर केवल पुरुष को ही कर्त्ता के रूप में देखा गया है और स्त्री को कर्म के – विषय के रूप में देखा गया है और दूसरी ओर इस कामुकता के दोष के लिए कामी को दोष नहीं दे कर इस कामुकता की भाजन को दोष दिया गया है। मुसलमानों ने तो इसमें अत्याचार को पराकाष्ठा पर ही पहुँचा दिया – स्त्री को बुरके में बंद करके। और आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें इसकी मूर्खता और क्रूरता आज भी दिखायी नहीं दे रही है। ये सब अँधेपन के एक प्रकार के उदाहरण हैं जो भारतीय समाज में पर्याप्त व्यापक और गहरा दिखायी देता है। किन्तु इस अन्धेपन से मुक्ति का अर्थ जो आज लिया जा रहा है वह एक दूसरा अंधापन नहीं है, उसने स्त्री को वास्तव में मुक्ति दी है या मुक्ति की दिशा प्रशस्त की है, यह एकदम असन्दिग्ध रूप से कहना कठिन होगा। पहले काम को नरक के द्वार के रूप में देख कर नारी को उसकी ओर ले जाने वाली के रूप में गर्हित किया जाता था और पुरुष से दूर रखने के लिए ढँका जाता था, उसका असूर्यंपश्या होना उसके गौरव का प्रतीक था, और आज काम को स्वर्ग का द्वार मान कर स्त्री को अधिक से अधिक उघाड़ा जाता है और इसे स्त्री के स्वातंत्र्य का नाम दिया जाता है, जबकि इसमें नारी की अस्मिता उतनी ही पुरुष के अधीन है जितनी पहले थी। केवल इसमें पुरुष की दृष्टि-भेद ही निर्णायक है, स्त्री की कोई दृष्टि या कर्त्तृत्व इसमें नहीं है।

किन्तु एक दूसरा पक्ष है जिसमें आज स्त्री की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता, दिखायी देती है। वह है स्त्री को घर से बाहर के सामाजिक जीवन में भाग लेने का समान अधिकार। यों यह द्रष्टव्य है कि पहले भी स्त्री घर तक सीमित केवल नागर समाजों में ही थी, ग्राम-समाजों में वह खेत में पुरुष के साथ कार्य में हाथ बटाती ही थी। किन्तु वहाँ भी वह पुरुष से गौण ही थी और वैसा होना उस कार्य की प्रकृति के कारण अनिवार्य था। इस प्रकार स्त्री की घर के भीतर तक सीमितता केवल नागर समाजों में ही थी, ग्राम-समाजों या आदिम समाजों में नहीं। आज अन्तर यह आया है कि आज नागर समाजों में भी स्त्री घर से बाहर के कार्यों में सहभाग ले रही है और दूसरा आधारभूत अन्तर यह है कि इसमें वह पुरुष की गौण नहीं है। किन्तु आज के नागर-जीवन में भी यह भेद तो है ही कि वह बहुत से कार्यों में पुरुष के तुल्य नहीं हो सकती–जैसे सेना, ट्रक और बस-ड्राइवरी या रेल-ड्राइवरी आदि में। किन्तु उसकी यह न्यूनता उसकी कोई मानवीय न्यूनता हीं है, जैसे मनुष्य के शेर के जैसे नख-दन्त नहीं होने या बलीवर्द के समान खुर और सींग नहीं होने में उसकी कोई न्यूनता नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बल्कि स्त्री पर पुरुष की यह 'अधिकता' उसकी आसुरता की हेतु ही बनी है, जिसने एक ओर उसे स्त्री के प्रति अन्यायी और अत्याचारी बनाया और दूसरी ओर स्त्री पर पुरुष की यह 'अधिकता' उसकी आसुरता की हेतु ही बनी है, जिसने एक ओर उसे स्त्री के प्रति अन्यायी और अत्याचारी बनाया और दूसरी ओर स्त्री को उसकी योग्यताओं के चरितार्थन से वंचित रखा। किन्तु इस अमानवीय न्यूनता के कारण वह पिछले युगों के समाजों में मानव के रूप में न्यून ही मानी जाती रही और उसे उसके मानवीय गुणों के विकास का अवसर नहीं दिया जाता रहा। आज इस दृष्टि में सुधार हुआ है, व्यवहार में चाहे उतना सुधार नहीं भी हुआ हो। किन्तु दृष्टि में सुधार व्यवहार में भी क्रमशः सुधार में तो अनूदित होगा ही।

किन्तु यह दृष्टि सम्यकद्य दृष्टि है या नहीं, यह विचारणीय है। मुझे लगता है कि इस दृष्टि में कुछ बड़े मूलगामी दोष हैं। पहला दोष तो यही है कि यह माना जाने लगा है, विशेषतः स्त्रियों के द्वारा, कि वे पुरुष के बराबर हैं, और 'बराबर' का अर्थ 'समान' उनके जैसी, लिया जा रहा है। अब, यदि स्त्रियाँ पुरुषों के समान हैं तो उनमें पुरुष के समान ही शौर्य भी होना चाहिए, आसुरता भी होनी चाहिए और निर्लज्जता भी होनी चाहिए! सो, यह बराबरी आज वह दिखाने को उद्यत है। इस निर्लज्जता को अंग्रेजी भाषा के शब्द 'बोल्डनेस' से अभिहित किया जाता है। (इस शब्द का हिन्दी में कोई पयार्यवाची शब्द मुझे मालूम नहीं है।) अभी बचाव की बात यह है कि इस प्रकार के व्यवहार के लिए पुरुषों को बोल्ड नहीं कहा जाता, उन्हें अभी इस बहादुरी के लिए निर्लज्ज ही कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ कि इसमें स्त्रियाँ स्वयं भी अपने को पुरुषों के बराबर नहीं मानतीं, पुरुष तो खैर उन्हें नहीं ही मानते। किन्तु इसके लिए स्त्रियाँ पुरुषों पर यह आरोप लगाती हैं कि वे स्त्री को देवी मानने और इस प्रकार उसकी मानवीय दुर्बलताओं को अक्षम्य मानने की पुरानी मानसिकता से मुक्त नहीं हैं।

यह बात बहुत जटिल है, इस पर विस्तार से विचार करना अपेक्षित है जो इस लेख में नहीं किया जा सकता। किन्तु तब भी हम यहाँ संक्षेप में कुछ कहेंगे। प्रथम तो यह 'बोल्डनेस' दो प्रकार की है – एक, जो अमृताप्रीतम और तसलीमा नसरीन की आत्मकथाओं में दिखायी देती है, और दूसरी, जो जिस्म जैसी पिक्चरों में विपाशा वसु ने दिखायी है। इन दो में अन्तर है। इन आत्मकथाओं में अपने कृत्यों का विवरण है, जिनको बताने में लोग प्रायः ही झिझकते और घबराते हैं, स्त्रियाँ तो विशेष रूप से घबराती हैं। इन आत्मकथाओं में यह वर्णन महिमा-मंडन के रूप में भले ही नहीं हो किन्तु पश्चांत्ताप और आत्मालोचन के रूप में भी नहीं है। उसमें वैसी ही बोल्डनेस है जैसी वैसा लिखने में किसी पुरुष के लिए भी होती। यहाँ यह बात विचारणीय हो सकती है कि जब तक वह विवरण महात्मा गान्धी के 'सत्य के प्रयोगों' के रूप में नहीं है तब तक उसके देने का औचित्य क्या? वे ऐसी व्यक्तिगत वस्तुस्थितियाँ हैं जिन्हें सार्वजनिक करना उसी प्रकार का है जैसे बाज़ार में नंगा खड़ा होना। अमरीका में स्त्रियाँ कभी-कभी यह भी करती हैं, किन्तु इसका औचित्य क्या? अन्यथा वे स्थितियाँ मूल्यांकन की विषय हैं। तब प्रश्न है कि आपने उनका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल्यांकन कैसा किया है और उस मूल्यांकन का औचित्य क्या है? (मैं इन आत्मकथाओं के सम्बन्ध में अपना मत इसलिए नहीं दे रहा हूँ क्योंकि मैंने ये पढ़ी नहीं हैं, केवल इनके सम्बन्ध में सुना ही है।) किन्तु जिस्म जैसी पिक्चरों में काम-केलियों द्वारा कामुकता का कामोद्दीपन के लिए प्रदर्शन है। यह 'बोल्डनेस' पुरुष के लिए भी गर्हणीय ही है, स्त्री के लिए और भी गर्हणीय है – ऐसा हम कहना चाहेंगे। इस कथन के पीछे दैवीकरण कर उसकी मानवीय दुर्बलताओं को अक्षम्य बनाने की दृष्टि नहीं है बल्कि स्त्री के प्रति पौरुषिक सौन्दर्य-दृष्टि का स्वीकार है। यह सौन्दर्य प्रथमतः रूप का ही होता है, किन्तु रूप का सौन्दर्य हृदय के सौन्दर्य का सहज संकेत भी बनता है–बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार विद्वत्ता, कलावन्तता आदि सहज रूप से चारित्रिक उत्कृष्टता के लिए संकेत के रूप में देखे जाते हैं। यदि पिता से माँ को अधिक स्नेहमयी, भाई से भाई की तुलना में बहन को अधिक स्नेह की पात्र और भाई के प्रति अधिक स्नेहमयी देखा जाता है तो यह कोई पुरुष का स्त्री पर अन्याय नहीं है, न उसमें दुर्बलताओं का अस्वीकार है, बल्कि यह सहज धारणा है कि मानवीय गुणों में स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ होती है और जो स्त्री ऐसी नहीं होती वह प्रकृति का विचलन जैसा है। ठीक बात तो यह है कि स्वस्थ मानसिकता में कोई स्त्री की सहज मानवीय दुर्बलताओं के प्रति भी अधिक सहानुभूतिशील ही होगा। स्त्री की मानवीय दुर्बलताओं के प्रति पुरुष जो अधिक असहिष्णु रहा है वह केवल सामाजिक दृष्टि-दोष ही है, जो स्वस्थ मानसिकता के अभाव का ही द्योतक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्री को पुरुष की अपेक्षा हृदय के मानवीय गुणों में श्रेष्ठतर मानने और उस दृष्टि के अनुसार उसे देखने में पुरुष का कोई अन्याय है। अभी कुछ दिन पहले दूरदर्शन पर समाचार था कि दो लड़कियों ने एक पैट्रोल पंप पर कार्य ग्रहण किया है। इस पर प्रतिक्रिया देते हुए पुरुषों का कहना था कि 'इससे अब पैट्रोल देने में धोखाधड़ी कम होगी क्योंकि स्त्रियाँ धोखाधड़ी में पुरुषों के बराबर नहीं होती।' यह धारणा ग़लत हो सकती है, या स्त्री में इस दृष्टि से पुरुष से श्रेष्ठता प्राकृतिक नहीं हो कर सांस्कृतिक और इस प्रकार आरोप मात्र भी हो सकती है, किन्तु न तो इसे गलत सिद्ध करने में स्त्री की अस्मिता की सिद्धि में कोई वृद्धि होती है और न ऐसा मानने में पुरुष का स्त्री के प्रति कोई अन्याय या षड्यंत्र है। स्त्री-पुरुष में ऐसा भेद केवल सांस्कृतिक आरोप है या इसका कोई प्राकृतिक आधार भी है, यह निर्णय बहुत सहज नहीं है, क्योंकि किसी संस्कृति में इनमें अभेद भी सांस्कृतिक आरोप और प्राकृतिकता का विपर्यास हो सकता है।

ऊपर हमने कहा कि पुरुष स्त्री में रूप-सौन्दर्य की अपेक्षा करता है जो सहज रूप से सुशीलता, सरलता और मृदुता आदि गुणों का व्यंजक देखा जाता है। ये गुण रूप-सौन्दर्य में अतिशयता ही नहीं लाते, उसका अभाव होने पर उसका भाव भी लाते हैं और इन गुणों का अभाव रूप-सौन्दर्य को धुँधला, और बहुत बार विकर्षक भी बनाता है। स्त्री के प्रति पुरुष की इस दृष्टि में पुरुष का उसके प्रति कोई अन्याय है और स्त्री को यह सिद्ध करने में कोई अस्मिता का लाभ मिल सकता है कि वह पुरुष से इन गुणों में किसी प्रकार भिन्न नहीं है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसा मुझे युक्तियुक्त नहीं लगता। अधिकांश स्त्रियों में रूप-सौन्दर्य नहीं होता और रूप में सुन्दर स्त्रियों में बहुत सी इन गुणों से युक्त नहीं होतीं यह सही है, किन्तु ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अधिकांश पुरुषों में धीरोदात्त नायक के गुण नहीं होते, आसुरी वृत्तियाँ ही अधिक होती हैं। किन्तु उनकी परस्पर के प्रति इन अपेक्षाओं में परस्पर के प्रति अन्याय देखने में कोई औचित्य है, ऐसा मुझे सही प्रतीत नहीं होता। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज का युग इन दृष्टियों के विपर्यास में ही गौरव देखता है। प्रगति और विकास के हमारे आदर्श यूरोप-अमरीका आज इन गुणों में कोई उत्कृष्टता नहीं देखते। कुछ ही वर्ष पहले की बात है कि इंगलैंड के एक प्रधान मंत्री, शायद जोन मेजर, के सम्बन्ध में यह पता चलने पर कि उसके किसी या कुछ स्त्रियों से अवैध यौन सम्बन्ध हैं, वहां की स्त्रियों में उसकी लोकप्रियता बढ़ गयी थी। (यहाँ मैं यह स्मृति से लिख रहा हूँ किन्तु किसी अन्य लेख में मैंने यह एक समाचार पत्र से उद्धृत किया था।) इसी प्रकार कल (2 सितम्बर, 2004) के **टाइम्स ऑफ इंडिया** में समाचार प्रकाशित हुआ है कि ब्रिटने नाम की **मादक** गायिका की चूस कर डाली हुई चूइंगम तीस लाख डालर में नीलाम हुई। इन दो समाचारों में वहाँ की स्त्रियों की अस्मिता विषयक दृष्टि और पुरुषों के पौरुष विषयक उनकी दृष्टि पर जो टिप्पणी निगूढ़ है मुझे वह केवल भयावह ही दिखायी देती है। इससे पिछले युगों की अस्मिता-विहीनता ही अच्छी, क्योंकि इस नयी अस्मिता से न स्त्रियों पर बलात्कारों में कोई कमी आयी है और न उन पर दूसरे अत्याचार ही घटे हैं, और न स्त्री अन्यथा ही अपना कोई प्रतिष्ठापक आधार प्राप्त कर पायी है। तो भी यह स्वीकार करना होगा कि आज स्त्री की अस्मिता की बात उठना सामाजिक चेतना में आधारभूत परिवर्तन का लक्षण है और इस ओर एक प्रगति का द्योतक है, वह प्रगति चाहे किसी युक्त दिशा-बोध से रहित गति मात्र ही क्यों न हो।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-302015

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मेरे 'सत्य' शीर्षक लेख पर मुकुन्द जी और भटनागर साहिब की टिप्पणियों के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण

मेरे 'सत्य' शीर्षक लेख पर मुकुन्द जी की विस्तृत टिप्पणी मेरे चिन्तन से उनके गहरे परिचय और उनकी स्वयं की दृष्टि की गहराई की द्योतक है। इससे उनके द्वारा उठाये गए प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और मेरे लिए ये अपने प्रतिपादनों के स्पष्टीकरण का ऐसा अवसर प्रस्तुत करते हैं जो अन्यथा सम्भव नहीं होता।

स्पष्टीकरण का आरम्भ हम मुकुन्द जी की एक टिप्पणी के उद्धरण से करेंगे। उनके अनुसार, "शल्य जी का प्रतिपादन है कि चित्–आत्म–व्यापारमय है और अपने व्यापार में चित् अपने सत्य का विस्तार–बहुरूप विपुलता–चाहता है। इसके लिए वह अपने को अपने ही आपसे उपहित या व्यवहित कर लेता है। यही उसके आत्मसृजन का बीज है। पर यों आत्म की आत्मव्यवहिति से आत्म में एक अनात्म भी आत्मनिहित हो जाता है, जो उसकी आत्म-विसृष्टि का माध्यम भी बनता है।" (पृ. 93-94) इसमें कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हमने अपनी पुस्तक **मूल्यतत्त्व मीमांसा** के दूसरे अध्याय 'सृजन और सत्य' में इस पहेली को समझाने के लिए भाषा का उदाहरण लिया है–"भाषा अपने वाच्य को जन्म देती है और उसे अनन्त नाम-रूपात्मक अर्थ-संसार की सृष्टि द्वारा विपुल बनाती है, किन्तु यह नाम-रूप अपने वाच्य से सदैव न्यून रहता है। वास्तव में शब्द-सृष्टि के व्यापार के अनन्त होने का यही रहस्य है।" यहाँ द्रष्टव्य है कि वाच्य से सम्यक् होना, उसे निश्शेषतः व्यक्त कर पाना भाषा के लिए एक साध्य आदर्श होता है, किन्तु यह वाच्य भाषा से पूर्व कहीं नहीं होता। यह भाषा से ही अस्तित्व में आता है, किन्तु उसका यह 'अस्तित्व' इस मेज़ या उस चारपायी के जैसा, या इस कथन के जैसा भी नहीं होता। यह भी कह सकते हैं कि इस अर्थ में इसका कोई अस्तित्व होता ही नहीं। यह बोले गए या बोले जाने वाले वाक्यों के लिए अभिव्यंग्य होता है, किन्तु उनके लिए केवल अंशतः गम्य रहता है। यह भाषा में वाच्य की आत्मव्यवहिति है। इस व्यवहिति को वाच्य द्वारा स्वरचित कहने में भ्रांति का भय है, जो भ्रांति सारे वैदान्तिक दर्शन में, श्री अरविन्द-दर्शन सहित, मिलती है। चित् या आत्म को व्यापारमय कहने में भी इसी भ्रांति का भय है। पहले तो 'चित्' और 'आत्म' मेरे प्रतिपादनों में पर्यायवाची नहीं हैं, न ये व्यापारमय हैं। व्यापारमयता चेतना में (चित् में नहीं) आत्मचेतन होने पर उत्पन्न होती है। आत्मचेतन चेतना से रहित चेतना भी यों अविभक्त नहीं होती, वह पाँच ज्ञानेन्द्रियों और विषयों की विभिन्नता में विभक्त होती है, किन्तु इस अर्थ में वह अविभक्त भी होती है कि इसमें विषयि-विषय का द्वैत नहीं होता, वह विषय के साथ तदात्म रहती है। यह विभाग इसमें आत्मचेतना के साथ आता है, जिसमें यह विषय से अपने को पृथक् देख पाती है। इसी में इसमें आत्म-व्यवधान का आधान होता है–मैं अपने लिए ज्ञेय हो जाता हूँ–स्वयं अपने को किंचित् ज्ञात, अधिकांशतः परोक्ष और बहुत बार अपने लिए ही भ्रांति-स्थान। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस आत्म-विभाग से पहले का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अविभक्त भाव अव्यवहितत्व की अवस्था थी। वह अवस्था पूर्ण तमस् की, निमीलितता की अवस्था ही थी, जिसका पता हमें आत्मचेतन होने पर ही चलता है। आत्मचेतना चेतना के उन्मीलन की अवस्था ही है, जिसमें आत्मा सत्ता-लाभ कर अपने को किंचित् देख पाती है, किन्तु इसका वैचित्र्य यह है कि यह उबार इसे स्वयं अपने लिए अतल और अपार पारावार के जैसा बना देता है, जिसमें यह तक भरोसा नहीं रहता कि इसका प्रकट अर्थ इसके वास्तव अर्थ से कोई अनुरूपता भी रखता है या नहीं। किन्तु इसका वास्तव अर्थ दुरवगम्य होते हुए भी अगम्य नहीं होता। यदि अगम्य होता तो उन्मीलन होता ही नहीं। इससे ऐसा भी कह सकते हैं कि अनात्मचेतन चेतना पूर्णत: अनात्म चेतना ही होती है, उमसें आत्मा पूर्णत: अभाव रूप ही रहती है। वहाँ वह व्यवहित नहीं रहती, क्योंकि व्यवधान आत्म-विभाग होने पर होता है, वहाँ वह अव्यवहितत्व आत्मा के अभाव, उसकी अविद्यमानता के कारण होता है। आत्मा में आत्म-व्यवहितत्व का आविर्भाव चेतना में ऐसे विभाग से होता है जो उमसें एक साथ आत्मा और अनात्म को ज्ञेय रूप में जन्म देता है। मनुष्य में, और केवल मनुष्य में ही, उचित-अनुचित, वरेण्य-हेय के विवेक की विद्यमानता इसका प्रमाण है।

यहां आत्मा की व्यापारमयता के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण और आवश्यक है। उपलब्ध रूप में आत्म या आत्मा चेतना की प्रत्यङ्मुखता में प्रदत्त आत्म-प्रत्यय का वाचक है। यह आत्मा हमारे संकल्प, विवेक, भावन और विचार आदि का आश्रय और प्रवर्त्तक दोनों कहा जा सकता है। किन्तु इसका मूल प्रत्यङ्मुखता में होने से व्यापारमयता और बहुलता अपनी सार्थकता आत्मा के इस बहुलता से उबार में पाती है, आत्मा के अपने बहुलीकरण में नहीं। स्थूल स्तर पर यह विशेषों के सामान्यों या प्रत्ययों में अन्तर्भाव के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रत्यङ्मुखता में स्वयं यह आत्म-प्रत्यय भी आत्मपर्यवसायी नहीं रहकर आत्म-अतिक्रमणीय हो जाता है और पर्यवसायी आत्मा के लिए प्रतीक मात्र बन जाता है। इस आत्मा के लिए प्रवर्तन-बहुलीकरण साध्य नहीं हो कर अपने को पाने के साधन के रूप में ही उपयोगी हो सकता है, साध्य रूप में यह केवल अनात्म का सन्धान, अपने पर-रूप में भटकाव ही रह जाता है। इस विचार का विवेचन **उन्मीलन** में पीछे प्रकाशित तथा **तत्त्व-चिन्तन** पुस्तक में संकलित मृत्यु-चिन्तन, जगत्-चिन्तन और आत्म-चिन्तन लेखों में विस्तार से हुआ है। (पृ. 54)

इसके बाद मुकुन्दजी ने प्रश्न किया है–"पर आत्म स्वरूपेण ऐसे अनात्म का भी घर हो जो प्रवृत्ति मात्र के होने का आधार हो तो सत् का निकष सदा ओझल, सदा अनात्म-दिग्ध भी रहता है। यह द्वैधीभाव शल्य जी के चित्स्वरूप में ही समोया है–इसका समाधान क्या?"

बड़ा गहरा प्रश्न है। पर यह स्थापना कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती है। हम प्रवृत्ति का आधार अनात्म को नहीं कहना चाहेंगे। प्रवृत्ति चेतना में सहज है। वह स्वत: न अनात्म है, न आत्म। क्योंकि अनात्म आत्म को पूर्वापेक्षित करता है जिसका आविर्भाव चेतना में उसके आत्मचेतन होने पर होता है। आत्म के इस आविर्भाव के अनन्तर कभी, किसी समय, चेतना में इस बोध का आविर्भाव होता है और तब प्रवृत्तिमात्र इन दो रूपों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्गीकृत हो जाती है। किन्तु यह बोध सम्यक् है या नहीं : आत्म ही आत्मरूपेण और अनात्म ही अनात्मरूपेण गृहीत हो रहा है या नहीं : यह हमारे लिए अधिकांशतः सन्देहास्पद बना रहता है। पर सन्देहास्पदता का अर्थ है असंदिग्ध ज्ञेयता की सम्भवता। यह सम्भावना प्रवृत्ति में ही होगी। अब, ज्ञेयता अनिवार्य रूप से सम्भव ही बनी रहती हो, कभी सिद्ध नहीं हो पाती हो, यह हो सकता है, किन्तु अधिकाधिक ज्ञेयता की सिद्धि तो इसमें सम्भव है ही। वास्तव में तो ज्ञान का आभास, बल्कि कहें सत्य का साक्षात्कार ही भ्रान्ति का बोधक होता है, भले ही वह साक्षात्कार पीछे अप्रामाणिक, सन्देहास्पद या भ्रांत भी निकले। किसी कृति में दोष उसके निर्दोष, या कम से कम उस अपेक्षा से निर्दोष, रूप के साक्षात्कार के द्वारा ही दिखता है, किन्तु चेतना के आत्मचेतन नहीं होने पर अनात्म ही चेतना में आत्मरूपेण व्याप्त रहता है, और पूर्णतः असंदिग्ध रूप से।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आत्म-अनात्म के भेद का आधार क्या है? किसी कुछ को अनात्म कहने का औचित्य क्या है? सर्वप्रथम और सर्वाधिक असंदिग्ध रूप से अपनी देह ही आत्मरूपेण गृहीत होती है। वही आत्मा क्यों नहीं है? इस प्रश्न पर भारतीय दर्शनों, विशेषतः अद्वैत वैदान्तिक और बौद्ध दर्शनों में बहुत विस्तार से विचार हुआ है और हमने भी अन्यत्र पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। किन्तु यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ विमर्श और अपेक्षित है।

जैसाकि हमने कहा, देह की आत्मस्वरूपता आद्य और सहज होती है, ऐसी ही ऐन्द्रिक और चैत्त वृत्तियों की आत्मस्वरूपता भी होती है। किन्तु चेतना के आत्मचेतन होने पर ये क्रमशः विषयरूपेण विषयी से बहिष्कृत हो जाते हैं। ये अनात्म हैं, यह बोध यद्यपि चिन्तन और मनन की सामर्थ्य के पर्याप्त विकास के साथ ही विकसित होता है, किन्तु उचित-अनुचित, श्रेय-हेय का भेद चेतना के आत्मचेतन होने के प्रायः साथ ही चेतना में प्रकट हो जाता है। यह विवेक सम्यक् होता है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है। स्पष्टतः ही यह सम्यक् नहीं होता, यह भी हम क्रमशः जानते हैं, किन्तु सम्यक् क्या है इसका अन्तिम रूप से निश्चित प्रमाण हमारे लिए अलभ्य ही रहता है। किन्तु हमारा अमुक विवेक सदोष था, यह हमारे पर निरन्तर प्रकट होता रहता है, यद्यपि इसमें हम कभी निश्चित होने की स्थिति में नहीं होते।

इस अनिश्चय और निश्चय का आधार क्या होता है? इसके उत्तर के लिए इस प्रश्न का उत्तर खोजना होगा कि विवेक का आधार क्या होता है? यहाँ हम इस पर विस्तार से विचार नहीं कर सकते, इस पर हमने सत्य शीर्षक लेख में संक्षेप से विचार किया है और अन्यत्र कई स्थानों पर पर्याप्त विस्तार से भी विचार किया है। यहाँ हम एक दूसरे प्रसंग पर विचार करेंगे जो इस प्रश्न पर अवान्तर रूप से प्रकाश डाल सकता है, और इसे एक व्यापकतर पृष्ठभूमि दे सकता है। यह प्रसंग हमारी कृतियाँ उपस्थित करती हैं। इस पर विचार मुकुन्द जी द्वारा स्पष्टीकरण के लिए आगे उठाये गये 'सामान्य' और 'प्रत्यय' के भेद के प्रश्न पर भी प्रकाश डालेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यों मनुष्येतर जीव-जगत् में भी हम कृतियों की रचना देखते हैं–पक्षी घोंसले बनाते हैं जिनमें एक कौशल-भेद दिखता है–चील का घोंसला अकुशलतम और बया का कुशलतम कहा जा सकता है, चींटियाँ, दीमक आदि बाँबी और मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं, और भी बहुत से कृमि अपने घर बनाते हैं। इन्हें 'आवास-प्रत्यय' का क्रियान्वयन कहा जाय या नहीं यह निर्णय कर पाना कठिन होगा, यद्यपि हम इसे यही कहना चाहेंगे। किन्तु स्वयं जीव-जातियों को भी प्रत्यय की अभिव्यक्ति और विभिन्न जैव देहों को कृतियाँ नहीं कहने का हमें कोई औचित्य दिखायी नहीं देता। जीव-जातियों को हमने कुछ इसी प्रकार अपनी पुस्तक **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** के 'प्राकृतिक जगत्' अध्याय में देखने का प्रयत्न किया है। इन्हें कृतियाँ कहने का औचित्य यह है कि इनमें एक प्रतिमान से सम्यक्ता साधने का प्रयत्न लक्षित होता है। पक्षी अपने घोंसलों में सुधार करते देखे जाते हैं, यों चील से गौरेया के और गौरैया से बया के घोंसले में सुधार तो स्पष्ट है ही। ये 'सुधार' एक प्रतिमान की अपेक्षा के द्योतक होते हैं और कृति की अपने प्रत्यय से न्यूनता की मात्रा के निर्धारक होते हैं। किन्तु जीवों की और प्रकृति की ये कृतियाँ प्रत्ययों के प्रति और अपने कृतित्व के प्रति आत्म अचेतन होती हैं। जीव और प्रकृति अपनी कृतियों में न्यूनता या दोष *देखते* नहीं, यद्यपि उनमें अपनी कृति में 'सुधार' का प्रयत्न इस दृष्टि की अविदित विद्यमानता का संकेत देता है। किन्तु मानव-चेतना असंख्य प्रत्ययों का साक्षात्कार करती है और यह साक्षात्कार न्यूनाधिक आत्मचेतन भी होता है। यहाँ यह प्रष्टव्य होना चाहिए कि इन प्रत्ययों की सत्ता कैसी और कहाँ होती है और कृतियों की सत्ता कैसी और कहाँ होती है, और कृतियों की अपने प्रत्यय से न्यूनता या असम्यक्ता या दोष की सत्ता कहाँ और कैसी होती है?

ऊपर हमने भाषा और उसके वाच्य के सम्बन्ध को देखा। यह वाच्य भाषा के साथ ही सत्ता-लाभ करता है और भाषा उस वाच्य को व्यक्त करने के क्रम में ही अस्तित्व में आती है। इस वाच्य की सत्ता के दो स्तर कहे जा सकते हैं–एक स्तर जो भाषा विशेष का व्यंग्य होता है और दूसरा जो भाषा मात्र का व्यंग्य होता है। इस दूसरे स्तर की विद्यमानता एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद में प्रकट होती है। अब, भाषा का आविर्भाव चेतना के आत्मचेतन होने पर होता है, और इस प्रकार वाच्य का भी, यद्यपि वाच्य का द्वितीय स्तर, वह स्तर जो भाषा मात्र में सामान्य होता है, किसी भाषा के लिए गम्य नहीं होता, यद्यपि चेतना अपनी प्रत्यङ्मुखता में उसका अधिकाधिक आभास पा सकती है। अपनी **समाज : दार्शनिक परिशीलन** पुस्तक के भाषा विषयक दो अध्यायों में हमने इस पर कुछ कहने का प्रयत्न किया है। किन्तु वाच्य का प्रथम स्तर भी, जो किसी एक भाषा के लिए व्यंग्य होता है, उस भाषा में कभी पूर्णत: अभिव्यक्ति नहीं पाता। अपने व्यंग्य के लिए भाषा की अपर्याप्तता हम निरन्तर अनुभव करते हैं। अब, भाषा का वाच्य एक अत्यन्त बृहत् प्रत्यय-संस्थान होता है, मनुष्य की अन्य कृतियाँ विशिष्ट प्रत्ययों की व्यंजक होती हैं, किन्तु इनकी सत्ता और अपने व्यंग्य प्रत्यय से इनका सम्बन्ध उसी प्रकार का होता है जैसा भाषा का वाच्य से। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इनकी यह सत्ता किस प्रकार की और कहाँ होती है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रश्न पर यहाँ अपेक्षित विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता, केवल विचार के लिए दिशा-निर्देश ही किया जा सकता है। प्रत्ययों की सत्ता स्पष्टत: देश-काल में नहीं हो सकती, जबकि चेतना अपने प्राकृतिक रूप में देशकालात्मक रूप से ही उपचरित होती है, किन्तु इनकी सत्ता चेतना से बाहर भी नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में इनकी सत्ता अतिप्राकृतिक चित् में कह सकते हैं, जो चित् प्रकृति में, या कहें अपने लोक-व्यापारात्मक पक्ष में, चेतना रूप से व्यक्त होता है। किन्तु यहाँ एक बड़ा विरोधाभास जैसा उपस्थित होता है—हमने ऊपर कहा कि वाच्य भाषा के साथ ही अस्तित्व में आता है, और भाषा चेतना के लोक-व्यापार के क्रम में ही अस्तित्व में आती है। ऐसी अवस्था में वाच्य के चित्-सत् होने का क्या अर्थ हो सकता है? यह एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है, जिसके उत्तर को लेकर हम सारी दार्शनिक परम्परा से, जहाँ तक इस परम्परा का हमें ज्ञान है, भिन्न मत रखते हैं। किन्तु तब भी, एक सर्जक या विचारक के लिए यह एक साधारण अनुभव की बात है कि वह अपने सृजन या चिन्तन में मानो जैसे अतिक्रान्त प्रत्ययों की झलक पाता है। ये प्रत्यय उतने ही अथाह और अपार भासित होते हैं जितना गहरा हम अपने भीतर झाँक पाते हैं। प्लेटो इन प्रत्ययों (आइडियाज़) को किसी अतिलोक में विद्यमान अस्तित्वों के रूप में देखते थे। उनके प्रतिपादन से हमारे प्रतिपादन में बहुत अन्तर है। सब से बड़ा अन्तर तो यही है कि वे सामान्य और प्रत्यय में अन्तर नहीं देखते और दूसरा अन्तर यह है कि हम प्रत्ययों को उस चिदाकाश की अवस्तुओं के रूप में देखते हैं जो प्राकृतिक चेतना के वक्ष में निहित अपनी सीमाओं के अतिक्रमण की आकांक्षा का प्रत्याक्षेप हैं, प्लेटो के वास्तव चिदाकाश में वास्तव वस्तुओं जैसे नहीं। आत्मचेतन चेतना में एक सहज भाव्यात्मकता और आत्म-अतिक्रान्तता है। प्रत्यय उसी भाव्य अलोक की अवस्तुएँ हैं।

इस सत् के स्वरूप को और स्पष्टता से समझने के लिए कृतियों की अपने प्रत्यय से न्यूनता के स्वरूप पर विचार स्थाने होगा—हम एक चित्र बनाते हैं, बनाने के बाद हम उसे देखते हैं और उससे कुछ असंतुष्ट अनुभव करते हैं। तब उस असन्तोष पर विचार करते हैं जो उस चित्र के प्रस्तुत रूप (उसकी रंग-रेखाओं से उभरी आकृति) की उसके अप्रस्तुत (लोक में अविद्यमान यद्यपि कल्पना में किंचित् आभासित) रूप से तुलना से उत्पन्न होता है। यह तुलना चित्र के प्रस्तुत रूप के दोष को प्रकट करती है—जहाँ तक वह करती है—और हम उस दोष को दूर कर देते हैं—रेखाओं को कुछ बदल कर या रंग को कुछ बदल कर। चित्र का वह दोष दूर हो जाता है और सदोष चित्र अस्तित्व से बाहर हो जाता है। अब द्रष्टव्य है कि उस दोष का अधिष्ठान कहाँ था, उसका अस्तित्व कैसा था? उसकी उस सदोषावस्था में उसके निर्दोष रूप का अस्तित्व कहाँ था? और इस निर्दोषता का स्वरूप कैसा है और अधिष्ठान कहां है? इन प्रश्नों के उत्तर होंगे कि दोष का अधिष्ठान दोष-दर्शी दृष्टि में था, दोष का अस्तित्व रंग-रेखाओं में था और यह अस्तित्व असत् था, चित्र के निर्दोष रूप का अस्तित्व कहीं नहीं था, इस निर्दोषता का स्वरूप चित्रगत दोष की निर्धारकता का है और इसका अधिष्ठान चेतना की आत्म-अतिक्रान्तता में है। यही सब आत्म-अनात्म के लिए भी है। अब, आत्म अनात्म का घर इस अर्थ में कहा जा सकता है कि आत्म का बोध, या कहें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्म-बोध का आविर्भाव, ही अनात्म-बोध का हेतु होता है। एक-दूसरे प्रकार से यों कहा जा सकता है कि कोई रंग-रेखाएँ किसी प्रत्यय को व्यक्त करने से चित्र बनती हैं, किन्तु यह चित्र अपने प्रत्यय से न्यून भी होता है और न्यूनाधिक असम्यक् भी। इस न्यूनता और असम्यक्ता का 'घर' चित्र होता है, प्रत्यय नहीं, यद्यपि न्यूनता और असम्यक्ता प्रत्यय की अपेक्षा से ही होती है। यही बात आत्म के अनात्म का घर होने के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अनात्म का घर आत्म नहीं, आत्मभावेन भावित हमारा (जीव मात्र का) जीवन, या यह भी कह सकते हैं कि अस्तित्वमात्र, है जो स्फुट या अस्फुट रूपेण आत्मवत् गृहीत होता है। जिस प्रकार चित्र-कला में नितान्त अशिक्षित व्यक्ति के लिए चित्रगत दोष वेद्य नहीं होता उसी प्रकार अनात्मचेतन सत्त्वों के लिए अनात्म का कोई बोध नहीं होता। अनात्म-बोध का आविर्भाव आत्म-बोध के आविर्भाव से ही होता है, और जितना आत्म-बोध सम्यक् होता है उतना ही अनात्म का अनात्मरूपेण बोध सम्यक् होता है। इस प्रकार आत्म को अनात्म का घर तो नहीं उसके बोध का हेतु कहा जा सकता है। *यह अनात्म प्रवृत्ति के होने का आधार नहीं होता, न प्रवृत्ति अनात्म के होने का आधार होती है, प्रवृत्ति दोनों बोधों की आधार होती है।* एक अन्य प्रकार से कहें तो यह भी कह सकते हैं कि प्रवृत्ति चेतना के आत्मा को पाने के प्रयत्न का ही नामान्तर है, जैसाकि हमने अपने 'सत्य' शीर्षक लेख में सांख्यकारिका की 56वीं कारिका को उद्धृत कर दिखाना चाहा है। (इस पर हमने अन्यत्र भी बहुत से लेखों और ग्रन्थों में यथाप्रसंग विचार किया है।) इसे समझने के लिए बौद्धों की **तथागतगर्भ** की अवधारणा भी बहुत उपयोगी हो सकती है। इस अवधारणा के अनुसार तथागत : अर्थात् सम्बोधि : बीज रूप में अस्तित्वमात्र में अन्तर्निहित है। ऐसा भी कह सकते हैं कि अस्तित्वमात्र में सम्बोधि निमीलित सम्भावना के रूप में विद्यमान है जो क्रमशः न्यूनाधिक उन्मीलित होती है। उपनिषद् का मंत्र–"न हि पुत्रस्य कामाय पुत्रं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रं प्रियं भवति" आदि भी थोड़े रूपान्तर के साथ इसे समझने में सहायक हो सकता है कि पुत्रादि के प्रति आत्मीयता लोक में आत्मभाव की ही अभिव्यक्ति है–जैसे कृति प्रत्यय की। ये अभिव्यक्तियाँ क्रमशः अपने दोष : या कहें दिग्भ्रान्तता : प्रकट कर आत्मा के अभ्रान्त स्वरूप को प्रकट कर देती हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसी बोध के दिग्भ्रान्त होने, या दिग्भ्रान्तता के बोध के दिग्भ्रांत नहीं होने, की प्रामाणिकता क्या है? पुत्रादि की आत्मीयता की भ्रान्तता प्रकट होने पर वह बोध भले ही स्वतःप्रमाण जैसा दिखे, किन्तु लैला के प्रति मजनूँ के या महीवाल के प्रति सोहनी के प्रेम में मजनूँ या सोहनी को यदि बाद में दिग्भ्रान्तता का बोध हो तो उसकी प्रामाणिकता के लिए क्या कहेंगे? सम्भवतः इसे बोध नहीं कह कर वृत्ति का भिन्न हो जाना कहना चाहिए और इस दूसरी वृत्ति में पिछली वृत्ति के अनुभव की दिग्भ्रान्तता की प्रतीति को बोध नहीं कहना चाहिए। यदि दूसरी वृत्ति की मनःस्थिति को प्रामाणिक मानकर पिछली के अनुभव को दिग्भ्रान्त कहा जाय तो काव्य और कलाएँ सब दिग्भ्रान्त सिद्ध हो जायेंगी, जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अवश्य शाक्य मुनि के लिए ये दिग्भ्रान्त चित्त की ही व्यापार होंगी, किन्तु तब भी इन्हें ऐसा मानना स्वतःस्पष्ट तो नहीं ही है। यहाँ कहा जा सकता है कि 'ये लौकिक चित्त के लिए तो सार्थक व्यापार ही हैं, किन्तु, जिस चित्त ने लौकिक चित्त का उत्स देख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिया है, जैसे शाक्य मुनि ने यह उत्स वासना में देखा था, उसके लिए काव्य-कलाओं में उन्मीलित अर्थ-राशि की, और उस कला-सृष्टि की उपादानभूत अनुभूतियों की, भ्रान्तता : असत्ता : देख पाना कठिन नहीं है। निश्चय ही हीर-राँझा का अनुभव अपने-आप में प्रामाणिक है, कवि का इस अनुभव का अवगाहन और अर्थ-राशियों का उन्मीलन भी प्रामाणिक और मूल्यवान् है, किन्तु केवल लौकिक चित्त-भूमि पर, जिसे शाक्य मुनि अनादि वासना-प्रवाह कहते हैं। शाक्य मुनि की चित्त-भूमि, या कहें अतिचैत्त भूमि पर इस अनुभूति और इन अर्थ-राशियों की दिग्भ्रांतता, या कहें असत्-प्रतिष्ठा, स्वत:प्रमाण रूप में प्रकट हो जाती है।'

सम्भवतः यह सही है। 'अनादि वासना-प्रवाह' आदि पारिभाषिक पद हैं और सिद्धान्त-दृष्टि की उपपत्तियाँ हैं, इनसे अलग होकर यह कहा जा सकता है कि हीर-राँझा का प्रेम चित्त की अत्यन्त उच्च भूमि है, किन्तु चित्त इसका उत्तरण कर जब भक्ति की भूमि पर आरूढ़ होता है तब पिछली भूमि की अनुभूति का अवमूल्यन किये बिना भी इस नयी भूमि पर उस अनुभूति का उदात्ततर रूप देखता है, और बुद्ध-भूमि पर वह और भी उदात्ततर भूमि पर आरोहण करता है। भूमियों के ये सोपान हम अपने साधारण अनुभव में भी प्रतिपल देखते हैं—अपने घर के पशुओं से आस-पास के मनुष्यों को, मनुष्यों में जन-साधारण को और चिन्तकों तथा कलकारों को चित्त की भिन्न भूमियों पर देखते हैं।

मुकुन्द जी का आगे प्रश्न है—'शल्य जी की दृष्टि में चित् अद्वय है। जो अद्वय हो उसी के आत्म-सृजन की बात की जा सकती है। चित् सत् को भी समोये है, जिसका वह सृजन करता है। पर चित् को किसी सृजन की आवश्यकता ही क्या? उसकी स्व सृष्टि क्यों? सृजन हो तो सृजन के लिए द्वैत की माँग होती है—सृजन किसी कुछ में, किसी कुछ से होता है। यह कहाँ से आयेगा?' (पृ. 95)

यहाँ थोड़ी कठिनाई है। 'चित् अद्वय है' यह अद्वैत वैदान्तिक दृष्टि है जो मुझे यथावत् स्वीकार्य नहीं है। किन्तु मुकुन्द जी ने मेरे लेख के जिस प्रतिपादन को अपने इस प्रश्न का आधार बनाया है उससे ऐसी भ्रांति हो सकती है। वहाँ मैंने तैत्तिरीय उपनिषद् का **'सोऽकोमयत् बहु स्याँ प्रजायेयेति'** मंत्र भी उद्धृत किया है। किन्तु वह मंत्र वहाँ मेरे लिए केवल उत्प्रेक्षात्मक है। इसी उपनिषद् का आगे एक और मंत्र है—'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत।' मेरे अभिप्राय के यह अधिक निकट है, किन्तु उपनिषद् के विचार-तंत्र से अलग करके मेरे तंत्र के अनुसार देखने पर। मेरा अभिप्राय है कि चेतना बहु होने के द्वारा ही होती है, बहु होना ही उसका होना है। बहु होने से पहले वह कुछ नहीं होती, असत् होती है। यों भौतिक विज्ञान की बृहत् स्फोट (बिग बैंग) की कल्पना कुछ ऐसी ही है। किन्तु मुझे इसके लिए सृष्टि के आरम्भ में ज़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रतिपद पर चेतना का अपने सृजन में असत् से सत् होना ही होता है। ब्रह्माण्डीय रूप से भौतिक अस्तित्व को :यदि उसे कोई अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो : चेतना की नितान्त सुषुप्ति की अवस्था कहा जा सकता है, जैव अवस्था को उसके सत्ता-लाभ की अवस्था का आरम्भ, सभ्यताएँ—संस्कृतियाँ उसकी विपुलता। मुकुन्द जी को मेरा यह मन्तव्य विदित है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वे इससे ऐकमत्य भी रखते हैं, किन्तु उन्होंने यह प्रश्न जिस प्रकार रखा है उसमें मेरा ब्रह्मसूत्र के दूसरे सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' [जिससे संसार का जन्म आदि होता है, वह ब्रह्म (अद्वयचित्) है] के जैसा भाव दिखायी देता है, जो ठीक नहीं है। किन्तु मैं चित् की अद्वयता को चेतना में निहित आत्म-अतिक्रमण की पर्यन्तता के रूप में देखता हूं, उस मूलावस्था के रूप में नहीं जो चेतना और उसके जगद्व्यापार की उपादान और निमित्त कारण है, जैसाकि ब्रह्मसूत्र के दूसरे सूत्र में देखा गया है।

पृष्ठ 96 के अन्तिम अनुच्छेद में, जो पृ. 97 पर समाप्त होता है, मुकुन्द जी ने सामान्य और प्रत्यय में जो भेद देखा है वह एकदम सही है। ऊपर हमने प्रत्यय के स्वरूप पर कुछ विस्तार से विचार किया है। सामान्यों को जीव मात्र में आगमनात्मक व्यवहार का आधार कहा जा सकता है। कहते हैं जिस घोड़े ने कभी रीछ को नहीं देखा वह भी रीछ की गंध मात्र से भयभीत हो जाता है। यह उसके आश्व आलय-विज्ञान में रूढ़ आगमनात्मक संस्कार है, जो सामान्य-ग्राहक है। कृमियों का लगभग सभी व्यवहार इसी प्रकार का होता है और इसे सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) कहा जाता है। इस सामान्य को 'यथापूर्व तथैव पश्चात्' रूप ग्रहण कह सकते हैं। मनुष्य में यह भाषा की भाववाचक संज्ञाओं के रूप में भी ग्राह्य होता है। किन्तु भाववाचक संज्ञाएँ प्रत्ययों की भी वाचक होती हैं, जैसे घटत्व, गोत्व आदि। ये ही संज्ञाएँ सामान्यवाची भी होती हैं—जैसे वार्द्धक्य, सौन्दर्य, शत्रुता अदि।

यों प्रत्यय भी सामान्य ही होते हैं, जैसे घटत्व, गोत्व, यहाँ तक कि रामत्व भी, किन्तु प्रत्यय की सामान्यता अनेक प्रकार से घटित हो सकने की सम्भावना के अर्थ में होती है, चाहे उनमें घटित हो सकने का प्रत्येक प्रकार नितान्त विशिष्ट ही हो, जैसे रामत्व, कविता, चित्र, एक दार्शनिक सिद्धान्त आदि। दूसरे शब्दों में, उसका अस्तित्व विशिष्ट होने पर भी उसकी सत्ता निर्विशिष्ट होती है। किन्तु आगमनात्मक सामान्य में यह वैशिष्ट्य नहीं रहता, जैसे वार्द्धक्य, शत्रुता, पंकत्व आदि में। इस सामान्य का आधार सादृश्य-दर्शन या सादृश्य का आरोप ही होता है। इनमें एक और अन्तर अभिव्यक्ति या क्रियान्वयन के आधार पर किया जा सकता है—प्रत्यय व्यष्टि रूप में व्यक्त या कृतिरूप में क्रियान्वित होता है, जैसे गोत्व गाय में, आवासत्व भवन से घोंसले तक में, किन्तु आगमनात्मक या सादृश्य-दर्शन-मूलक सामान्य इस प्रकार का नहीं होता, जैसे वार्द्धक्य वृद्धों में व्यक्त या क्रियान्वित नहीं होता, वह वृद्धों में देखे गए सादृश्य से विकल्पित होता है, इसी प्रकार प्रहार-मुद्रा में उठा हुआ दण्ड सादृश्य से गाय में सामान्यात्मक आगमनात्मक व्यवहार को प्रेरित करता है। प्रत्यय और सामान्य में भेद इनके व्यष्टि या विशेष से सम्बन्ध के आधार पर भी देखा जा सकता है, जो उनमें सत्तागत प्रकार-भेद मूलक होता है : ऐसा कहना पूरी तरह सही नहीं होगा कि एक वृद्ध वार्द्धक्य को व्यक्त करता है या उसे दर्शित करता है, यह केवल वृद्धों में देखा गया सादृश्य होता है जो शब्द में उद्गृहीत होकर 'वार्द्धक्य' पद-वाच्य होता है। यदि कहें कि 'यह सादृश्य भी पूरा नहीं होता केवल न्यूनाधिक ही होता है, जिसे विट्गिंगस्टाइन ने पारिवारिक सादृश्य नाम दिया था', इससे हमारी बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि हम इस सादृश्य में कोई वास्तविकता देख ही नहीं रहे हैं। दूसरी ओर घट घटत्व को वास्तव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति के इस रूप को मानव-व्यक्ति के अपने प्रत्यय से सम्बन्ध से अधिक निर्णायक रूप से समझा जा सकता है : राम के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उनमें रामत्व तब सर्वाधिक रामायत होता है जब वे धर्म की रक्षा के लिए धनुष धारण करते हैं। जब वे हरिण के आखेट के लिए धनुष धारण करते हैं तब वे रामत्व के व्यंजक नहीं होते। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या रामत्व राम-व्यक्ति से भिन्न किसी व्यक्ति में भी व्यक्त हो सकता है? इसे कविता या चित्र की उपमा से समझना सहायक होगा। एक कविता विशिष्ट कविता होती है, किन्तु वह किसी प्रत्यय को व्यक्त करती है। यह प्रत्यय किसी और कविता के द्वारा भी व्यक्त हो सकता है और इस कविता से अधिक सम्यक्ता और पूर्णता से व्यक्त हो सकता है, यद्यपि ये दो कविताएँ भिन्न होंगी। इनमें भेद प्रत्यय के अवधारण के प्रकार से भी हो सकता है। यही बात राम और रामत्व के लिए भी कही जा सकती है। इधर गाँधीजी में यह देखा गया ही था। खान अब्दु ग़फ्फ़ार खाँ सीमान्त गाँधी कहे गए, कुछ और लोगों को भी 'गाँधी' कहा गया।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या गोत्व और गाय-विशेष के सम्बन्ध को भी राम और रामत्व के सम्बन्ध जैसा कहा जा सकता है? दूसरे शब्दों में, क्या गोत्व और रामत्व प्रत्यय एक से हैं? इसका उत्तर स्पष्टतः नकारात्मक होगा, क्योंकि गोत्व एक जैव जाति रूप में अभिव्यक्ति-लाभ करने वाला प्रत्यय है और अनात्मचेतन है जबकि रामत्व जैव प्रत्यय नहीं है, इसलिए जाति-रूप नहीं है, यह व्यक्ति के आत्म-क्रियान्वयन में अभिव्यक्ति-लाभ करता है। व्यक्ति-रूप में यह क्रियान्वयन अद्वितीय ही होगा, क्योंकि वह व्यक्ति इसके क्रियान्वयन के द्वारा ही आत्म-लाभ करेगा, किन्तु इस अर्थ में यह सामान्य भी होगा कि यह कितने भी व्यक्तिओं के लिए आत्म-लाभकर हो सकता है।

इस प्रकार प्रत्यय एक प्रकार के नहीं होते। इन्हें केवल इस अर्थ में एक प्रकार के कहा जा सकता है कि इनकी सत्ता चिद्‌गत अर्थ-रूप होती है, जाति-प्रत्यय-सहित, जो अर्थ गहराई और व्यापकता में भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सब प्रत्ययों में ये दो आयाम होते हैं। किन्तु किसी अर्थ की गहराई और व्यापकता कितनी है, यह उस अर्थ का अवगाहन करने वाली चेतना की दृष्टि-सामर्थ्य पर भी निर्भर करता है, यद्यपि वे प्रत्यय जो इस दृष्टि के साथ ही अस्तित्व-लाभ करते हैं, उनकी गहराई और व्यापकता अनवगाह्य होती है।

इसी क्रम में मुकुन्द जी ने प्रवृत्ति और निवृत्ति को लेकर टिप्पणी की है। उनकी टिप्पणी है "अचंभा नहीं कि अर्थ-संधानी आत्म विशुद्ध निवृत्ति में ही सार्थकता साधना चाहता है। प्रवृत्ति मात्र को निरर्थक समझता है, जैसे बुद्ध। ऐसी निवृत्ति-साधना में भी चेतना अर्थ के विराट् की उपलब्धि करती है। पर यहाँ भी अनात्म से मुक्ति मिली या नहीं, यह ठीक कैसे जाना जाय?" (97) यद्यपि इस प्रश्न पर हम एक दूसरे सन्दर्भ में पीछे विचार कर आये हैं किन्तु यहाँ हम 'अर्थ के विराट् की उपलब्धि' के प्रश्न पर विचार करना चाहेंगे। आत्मचेतना-शून्य जैव चेतना केवल प्रवृत्त चेतना ही होती है, उसके सब अर्थ ऐन्द्रिक विषयों तक सीमित होते हैं, अथवा कहें, उसके लिए इन्द्रियार्थ ही एकमात्र अर्थ होते हैं। आत्मचेतन होने पर चेतना बाह्यार्थों से पृथक् आत्मा का भी प्रत्यक्ष करती है, चाहे बाह्यार्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के रूप में ही–अब 'मैं' 'भोजन' का 'भक्षण करता' हूँ। चेतना की इस अवस्था में भोजन केवल भक्ष्य ही नहीं रहता, बल्कि वह नाम से व्यवहित हो जाता है। बल्कि कहें वह नाम में निहित होकर ही अपना अर्थ पाता है। यह नामकरण भी यद्यपि विषय को ही प्रस्तुत करता है, किन्तु उस चेतना के लिए प्रस्तुत करता है जो आत्म-निवर्तित होकर विषय को प्रत्ययात्मक सत्ता देती है। इस प्रकार चेतना आत्म-चेतन निवर्तित होने से ही होती है, किन्तु इस निवर्तन में भी चेतना साधारणतः पराङ्मुख ही रहती है : इन्द्रिय-विषयों, भावना-विषयों या विचार-विषयों में। ये विषय सामान्यतः प्रत्यय-मूलक होने से किस प्रकार अर्थ-विपुल होते हैं, इस पर यहाँ विचार करना सम्भव नहीं है, यों कुछ विचार पीछे प्रत्ययों पर विचार के प्रसंग में किया गया है। यहाँ केवल इतना देखना ही पर्याप्त होगा कि इस चेतना के लिए 'भोजन' का भी एक शास्त्र : पाक-शास्त्र : हो सकता है। किन्तु पाक-शास्त्र रचने के लिए चेतना को पराङ्मुख रहते हुए भी प्रत्यङ्मुखता में एक चरण और पीछे हटना होता है। इस निवर्तन में भी चेतना पराङ्मुख वृत्ति के बावजूद अधिकाधिक वैपुल्य और स्वातन्त्र्य-लाभ करती है। (पाकशास्त्र का विषय भोजन या भोज्य वस्तु का भोग नहीं होता बल्कि द्रष्टृता को समर्पित आस्वादमात्रता, अथवा कहें उद्गृहीत आस्वाद होता है, यह भोजन **कर्म** नहीं होकर **रस-ज्ञान** का विषय हो जाता है।) किन्तु यदि चेतना की वृत्ति ही प्रत्यङ्मुख हो जाय तब एक दूसरी ही अर्थ-सम्पदा और स्वातन्त्र्य का लाभ होना चाहिए। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस तरह देखने पर ज्ञान-योग सर्वोत्तम योग ठहरता है, भक्ति-योग और कर्म-योग अपेक्षाकृत नीचे रह जाते हैं, क्योंकि दोनों में एक पराङ्मुखता रहती है। यहाँ हम इस प्रश्न पर नहीं जाएंगे कि भक्ति और कर्म में भी वृत्ति प्रत्यङ्मुख हो सकती है, यद्यपि अधिकांशतः पराङ्मुख ही रहती है। **श्रीमद्भगवद्गीता** में इनके प्रत्यङ्मुख रूप को ही प्रतिपादित किया गया है और उसे योग कहा गया है। किन्तु यहाँ हम इस प्रश्न पर और आगे नहीं जाएंगे। यहाँ केवल मुकुन्द जी के इस कथन पर कुछ कहना चाहेंगे कि "यहाँ भी अनात्म से मुक्ति मिली या नहीं, यह ठीक से कैसे जाना जाय?"

पहले इस सन्देह का अर्थ समझने का प्रयत्न किया जाय। जैसाकि हम जानते हैं, महात्मा बुद्ध ने सम्बोधि में जो देखा महावीर ने वही नहीं देखा, न वैदिक ऋषियों ने वही देखा, न ईसा और मुहम्मद ने, या कबीर और तुलसी ने वही देखा। यह सन्देह का एक पक्ष हो सकता है। दूसरा पक्ष वह हो सकता है जिसकी ओर महात्मा कबीर ने 'माया महा ठगिनी हम जानी' में संकेत किया है। कौन जानता है ऐसा वे स्वयं अपनी चैत्त स्थिति को ही लक्षित करके नहीं कह रहे थे? मैंने 'सत्य' लेख में इसी विपदा की ओर संकत किया है और मुकुन्द जी भी उसी को लक्षित कर रहे हैं। किन्तु सन्देह का प्रथम पक्ष भी कम महत्त्व का नहीं है। अब, संबुद्ध पुरुषों में देखे जाने वाले इस दृष्टि-भेद के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? कि इनमें कोई भी प्रामाणिक नहीं है? *नैको मुनिर्यस्य मतः प्रमाणम्?* यह कहना युक्त नहीं होगा। सम्बोधि में देखा गया सत्य कवि या चित्रकार द्वारा देखे गए सत्य से उपमेय होता है। एक ही बाह्य दृश्य को दो चित्रकार भिन्न रूप में चित्रित करेंगे, एक ही बाह्य परिस्थिति को दो कवि भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित करेंगे। उनके चित्रण या निरूपण की प्रामाणिकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाह्य दृश्य या स्थिति से उसकी सम्यक्ता से निर्धारित नहीं होती बल्कि कवि या चित्रकार की अन्तश्चक्षु की दृष्टि की प्रांजलता से और उस दृष्टि द्वारा साक्षात्कृत के व्यक्त रूप के सम्यक् बोध और उसकी थाह पाने की क्षमता से निर्धारित होती है। यही सम्बोधि के सम्बन्ध में भी सत्य है। कबीर और तुलसी दोनों राम का नाम लेते हैं, दोनों भक्त हैं, किन्तु उनकी 'मति' में आधारभूत भेद है। किन्तु इस सारे भेद के बावजूद दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। उनकी प्रामाणिकता के लिए यह प्रासंगिक नहीं है कि राम का सगुण रूप वास्तव है या निर्गुण रूप? यही बात बुद्ध और महावीर के प्रतिपादनों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वे प्रतिपादन कहाँ तक युक्त हैं, कहाँ तक अयुक्त, यह देखना दार्शनिक तार्किकों का कार्य है। किन्तु युक्तता-अयुक्तता का यह प्रसंग सम्बोधि के प्रसंग से उसी प्रकार पृथक् होता है जैसे चित्र से बाह्य दृश्य। किन्तु तब भी भ्रान्ति के लिए अवकाश रहता है—आत्मा के ज्ञेय विषय होने से। चित्र के लिए प्रमाण बाह्य साक्ष्य तो नहीं होता किन्तु अन्त:साक्ष्य होता है जो अन्त:साक्ष्य स्वत:प्रमाण नहीं होता, परत:प्रमाण ही होता है। कबीर ने जो माया को सेठ के घर हीरे के रूप में और निर्धन के घर कानी कौड़ी के रूप में, शिव के घर भवानी और ब्रह्मा के घर ब्रह्मानी के रूप में देखा है, उसके पीछे यही तर्क है।

किन्तु हमने अपने लेख में एक और प्रश्न की ओर भी संकेत किया है : उपर्युक्त पराङ्मुख वृत्ति की प्रत्यङ्मुखता में जो अर्थ-संपदा का हमें साक्षात्कार होता है : काव्य, दर्शन, विज्ञान आदि में : मूल्यवान् तो वह भी होता है। इस सम्पदा को निवृत्तिपरक वृत्ति में साक्षात्कृत सम्पदा से कम मूल्यवान् क्यों माना जाय? इसका उत्तर होगा कि पराङ्मुख वृत्ति की प्रत्यङ्मुखता में दृष्टि का विषय स्वयं आत्मा नहीं होता, जो हमारी अपनी सत्यप्रतिष्ठा होती है, उस अर्थ—सम्पदा में हम आत्म-अप्रतिष्ठ रह कर भी विचरण कर सकते हैं, या कहें अर्थ-सम्पदा का साक्षात्कार कर सकते हैं। यही कारण है कि बड़े से बड़ा कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक कामी, क्रोधी, लोभी और कृपण हो सकता है। ये सम्पदाएँ उसे इस अनात्म से मुक्ति दिलाएँ, यह आवश्यक नहीं होता। किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि बुद्ध उस सम्पदा को पाने में असमर्थ रह सकते हैं जो वेदव्यास, कालिदास या नागार्जुन को उपलब्ध होती है।

डॉ. भटनागर की टिप्पणियाँ

डॉ. भटनागर की टिप्पणियाँ मेरे लेख में उठायी गयी समस्या से ठीक से सम्बन्धित नहीं हैं। जितनी सम्बन्धित हो सकती हैं उतनी का स्पष्टीकरण पीछे हो गया है। तो भी इन पर संक्षेप में विचार करने का प्रयत्न करूँगा।

उनका पहला वाक्य है—"बात चाहे कथ्य एवं वस्तुस्थिति की हो, अथवा आत्मगत पर-रूप एवं आत्मस्वरूप की हो, दोनों के बीच कहने और करने को लेकर जो सम्बन्ध मिलता है वह समान रूप से अस्पष्ट एवं समस्यामूलक होता है।" अब, मैंने लेख में जिस प्रकार प्रश्न उठाया है उसमें 'कहने और करने को लेकर सम्बन्ध' का कोई प्रसंग नहीं बनता। मैंने केवल 'सत्य' शब्द के साधारण प्रयोग का उल्लेख कर कह दिया है कि हम यहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस साधारण अर्थ पर विचार नहीं कर रहे हैं। काँट जब कहता है कि ''किसी भी अवस्था में असत्य नहीं बोलना चाहिए'', श्रीकृष्ण जब कहते हैं कि परिस्थिति विशेष में असत्य बोलना उचित है', जब युधिष्ठिर 'अश्वत्थामा हत:' कहते हैं, जब टार्स्की सत्य की अर्थपरक (सेमेंटिक) अवधारणा की बात करते हैं तब 'सत्य' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करते हैं। उन्हें वहाँ वैसी कोई अस्पष्टता और समस्या दिखायी नहीं दी जिसे भटनागर साहिब ने देखा है किन्तु बताया नहीं कि उन्हें क्या और कैसी अस्पष्टता दिखायी दे रही है। फिर, मैंने 'सत्य' के इस रूप का उल्लेख केवल उसे अपने विचार से अलग करने के लिए किया है। अब, ज़हाँ तक आत्म-स्वरूप और आत्मगत पर-रूप का प्रश्न है, इनमें सम्बन्ध कथन और वस्तुस्थिति के बीच सम्बन्ध जैसा कैसे हो सकता है? मैंने इस सम्बन्ध की भिन्नता पर ही विस्तार से विचार किया है, और भटनागर साहिब ने दोनों के बीच एक सी अस्पष्टता की बात मात्र कह कर मान लिया है कि बात कही गई।

दूसरे अनुच्छेद में भटनागर साहिब प्रश्न करते हैं–''यदि आत्म-स्वरूप सत्य है (वास्तविक है) तब क्या आत्मगत पर-रूप असत्य (अवास्तविक है?) है? पर आत्म-गत पर-रूप आत्म का ही प्रक्षेप है।'' ऊपर मुकुन्द जी की टिप्पणी पर मैंने जो स्पष्टीकरण दिया है उसमें अवान्तरत: यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरा ऐसा कोई प्रतिपादन नहीं है। पहले तो यहाँ 'वास्तविक' शब्द का प्रयोग ग़लत है, दूसरे, सत्य-असत्य के विशेष अर्थ में इसका उत्तर होगा कि आत्म-स्वरूप सत्य है और आत्मगत पर-रूप असत्य। किन्तु 'आत्मगत पर-रूप आत्म का प्रक्षेप है' ऐसा मेरे किसी कथन से ध्वनित भी नहीं होता। इस अनुच्छेद के आगे के सारे प्रश्न इसी प्रकार मेरे मन्तव्य को नहीं समझ पाने के द्योतक हैं।

तीसरे अनुच्छेद में उनकी टिप्पणी है कि ''अर्थ-लोक के एक खण्ड को, जो कलाओं और बौद्धिक सर्जन से जुड़ा है, शल्य जी अर्थ-जगत् में सर्वोपरि रखना चाहते हैं। कहना नहीं होगा कि अर्थ-लोक का यह भाग सम-रूप नहीं होता।'' मैंने कलाओं को अर्थ-लोक में सर्वोपरि नहीं रखा, मेरे लेख में वैसी कोई बात नहीं है। इस अर्थ-लोक़ के सम-रूप होने/ नहीं होने से भटनागर साहिब का क्या अभिप्राय है, और इसकी यहाँ प्रासंगिकता क्या है, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है। इसके असम-रूप होने से मेरी बात में क्या अन्तर पड़ता है, भटनागर साहिब ने यह नहीं बताया।

– यशदेव शल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai